ISSN : 2582-6360

विश्व दीप दिव्य संदेश

मासिक शोध पत्रिका

वर्ष 26 | अंक 03 | विक्रम संवत् 2077-78 मार्च 2022 | पृष्ठ 34

संरक्षक : विश्वगुरु महामण्डलेश्वर परमहंस श्री स्वामी महेश्वरानन्दपुरीजी

प्रकाशक

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान

(जगद्गुरुरामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय से सम्बद्ध)

कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर

Narayan

ISSN : 2582-6360

विश्व दीप दिव्य संदेश

मासिक शोध पत्रिका

वर्ष 26 | अंक 03 | विक्रम संवत् 2077-78 मार्च 2022 | पृष्ठ 34

परामर्शदाता
देवर्षि कलानाथ शास्त्री
पण्डित अनन्त शर्मा
डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर
प्रो. कैलाश चतुर्वेदी
डॉ. शीला डागा
प्रो. (डॉ.) गणेशीलाल सुथार

प्रधान सम्पादक
सोहन लाल गर्ग

सम्पादक
डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा

सह-सम्पादक
डॉ. रामदेव साहू
डॉ. रघुवीर प्रसाद शर्मा
तिबोर कोकेनी
श्रीमती अन्या वुकादिन

सहयोग
नवीन जोशी
आनन्द शर्मा

- प्रमुख संरक्षक -
परम महासिद्ध अवतार श्री अलखपुरी जी
परम योगेश्वर स्वामी श्री देवपुरी जी

- प्रेरणास्त्रोत -
भगवान् श्री दीपनारायण महाप्रभुजी

- संस्थापक -
परमहंस स्वामी श्री माधवानन्द जी

- संरक्षक -
विश्वगुरु महामण्डलेश्वर परमहंस
श्री स्वामी महेश्वरानन्दपुरीजी

- प्रबन्ध सम्पादक -
महामण्डलेश्वर स्वामी ज्ञानेश्वर पुरी

प्रकाशक

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान
(जगद्गुरुरामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय से सम्बद्ध)
कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर

Website : vgda.in | **Youtube :** www.youtube.com/c/vishwagurudeepashram | **E-mail :** jaipur@yogaindailylife.org

Sponsored by : **DEVESHWAR DEEP IMPEX PVT. LTD.**, JAIPUR

अनुक्रमणिका

1.	सम्पादकीय	डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा	3
2.	वसन्तगीतिः	डॉ. शैलेश कुमार तिवारी	4
3.	भारतीय धर्म एवं वैष्णव सम्प्रदाय	देवर्षि कलानाथ शास्त्री	6
3.	द्यावापृथिवी : स्वरूपविमर्श (2)	डॉ. रामदेव साहू	10
4	ब्राह्मी लिपि : उद्भव एवं विकास	आनन्द शर्मा	14
5.	अंकलारमुक्तावली में उपमालक्षण - एक विमर्श	शिवानी	17
6.	भाषाशास्त्र का उद्भव एवं विकास	नवीन जोशी	22
7.	राष्ट्रोपनिषत्-प्रस्तावना-शतकम्	डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर	31

विश्वदीप दिव्य संदेश पत्रिका का वार्षिक सदस्यता शुल्क **800/- रूपये**

खाता संख्या : 5013053111

IFS Code : KKBK0003541

मुद्रण : **कन्ट्रोल पी**, जयपुर - मो. : 9549666600

सम्पादकीय

विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित मासिक शोधपत्रिका का वर्ष 2022 का तृतीय अंक आपके करकमलों में अर्पित करते हुए अत्यधिक हर्ष का अनुभव हो रहा है। भारतीय धर्म-संस्कृति के शोधलेखों का यह संग्रह विद्वानों द्वारा सराहा जा रहा है। विद्वानों द्वारा नियमित भेजे जा रहे शोधलेख हमारा मनोबल बढ़ा रहे हैं व पत्रिका के महत्त्व को भी आलोकित कर रहे हैं। पूर्व अंकों में सभी उच्चस्तरीय विद्वानों के लेख प्रकाशित हुए हैं।

इस अंक में सर्वप्रथम मासावतरण की दृष्टि से डॉ. शैलेश कुमार तिवारी द्वारा रचित 'वसन्तगीति एवं होलागीति की प्रस्तुति' अत्यन्त मनोहारिणी है। इसके पश्चात् देवर्षि कलानाथ शास्त्री द्वारा लिखित ''उत्साह और उमंग का पर्व होली'' शीर्षक लेख में होलिकोत्सव की परम्परा के विषय में ऐतिहासिक संदर्भों का रोचक प्रस्तुतिकरण किया गया है। डॉ. रामदेव साहू द्वारा लिखित 'द्यावापृथिवी : स्वरूपविमर्श-2' में पूर्व क्रम को आगे बढ़ाते हुए वेद के वैज्ञानिक पक्ष को आधार बना कर द्युलोक एवं पृथ्वीलोक के उत्पत्ति के विषय में वैदिक मतों का प्रस्तुतीकरण किया गया है। आनन्द शर्मा द्वारा लिखित ''ब्राह्मी लिपि : उद्भव एवं विकास'' लेख में ब्राह्मी लिपि के उत्पत्ति विषयक ऐतिहासिक सन्दर्भों को दर्शाया गया है। तत्पश्चात् शोधछात्रा शिवानी द्वारा लिखित ''अलंकारमुक्तावली में उपमालक्षण-एक विमर्श'' लेख में उपमा अलंकार के संदर्भ में आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय के अभिमत का व्यापक विवेचन किया गया है। इसी क्रम में नवीन जोशी द्वारा लिखित 'भाषाशास्त्र का उद्भव एवं विकास' लेख में भाषा के स्वरूपगत विकास के संदर्भ में हुए वैश्विक प्रयत्नों की व्यापक जानकारी प्रदान की गयी है। अन्त में डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर के 'राष्ट्रोपनिषत् प्रस्तावनाशतकम्' के कतिपय पद्य प्रकाशित किये गये हैं, जो गुरुशिष्यपरम्परा के गौरव को प्रदर्शित करने के साथ साथ आत्मचिन्तन की प्रेरणा प्रदान करने वाले हैं।

आशा है, सुधी पाठक इन्हें रुचिपूर्वक हृदयंगम करने में अपना उत्साह पूर्ववत् बनाये रखेंगे।

शुभकामनाओं सहित....

-डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा

वसन्तगीतिः

डॉ. शैलेश कुमार तिवारी
उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार

लसति ललितऋतुराजवसन्तः।
मधुमयरसरयभरितभसन्तः,
यत्र विभान्ति समे विलसन्तः।।

अतिमीरो रसमीरसमीरः,
कोकिलकाकलिकलितशरीरः।
मन्दं मन्दं वाति सनीरो
राजन्ते रसिका विहसन्तः।।1।। लसति ...

सलिलं भविलकमलकुलकलिलं
शिथिलं मोहितखगपशुपथिलम् ।
गुहिलशिलानिललललितमचिकिलं
मुग्धा यत्र समे निवसन्तः।।2।। लसति ....

विधृतसुधा वसुधा बहु भासते,
मुदितहृदयजनतेह विराजते ।
सरसवसन्तमवाप्य चकासति
सुमकिसलयनिचया विकसन्तः।।3।। लसति ....

होलागीतिः (1)

भवेदानन्दसन्दोहादिवृष्टी रम्यहोलायाम्।
सदा स्यान्नव्यभव्योदात्तदृष्टी रम्यहोलायाम् ।।

मदेर्ष्याद्विषलोभक्रौर्यकौटिल्यादिकक्षाणाम्
मिलित्वा होलिका दाह्या मुदास्यां रम्यहोलायाम् ।।1।।

हृदा विस्तार्यतां मैत्री , सुदूरे हीयतां वैरम्।
वहेत् प्रेमप्रसूर्गंगा नवीना रम्यहोलायाम् ।।2।।

लभन्तां सज्जनाः स्वेष्टं समस्तं सर्वदा देशे
रमन्तामैक्यधारायां प्रसन्ना रम्यहोलायाम् ।।3।।....

होलागीतिः (2)

वर्षति रसधारा धरायां होलायाम् ।
वितरितसुखसारा धरायां होलायाम्।।

नवलोल्लासविहाससमृद्धा
राजन्ते बालकयुववृद्धा
अधिगतसुखपारा धरायां होलायाम् ।।1।।

रम्या मेलाकेलावेला
एषा यत्र च होलाहेला
हृतमानसभारा धरायां होलायाम् ।।2।।

नानारागसुरञ्जितदेहा
भान्ति जना भूत्वेह विदेहाः
कृतमदपरिहारा धरायां होलायाम् ।।3।।

होलागीतिः (3)

मम मोदयते हृदयं होला
मम मोदयते हृदयं होला ।।

अद्य मिथो मतभिन्नजनानपि
मेलयते मृदुला होला ।।1।।
हो हो मेलयते मृदुला होला, मम मोदयते...

चारुतरं नवरससञ्चारं
भूमितले कुरुते होला ।।2।।
हो हो भूमितले कुरुते होला, मम मोदयते...

नानाविघ्नविखिन्ननराणां
खेदततिं हरते होला ।।3।।
हो हो खेदततिं हरते होला, मम मोदयते...

शुष्कहृदयसमरूक्षजनेष्वपि
प्रेमरसं भरते होला ।।4।।
हो हो प्रेमरसं भरते होला, मम मोदयते...

अप्रतिमां नवलां प्रकृताविह
चेतनतां तनुते होला ।।5।।
हो हो चेतनतां तनुते होला, मम मोदयते...

होलागीतिः (4)

खेलति बालाप्तहोला विलोला
खेलति बालाप्तहोला ।।
रासकुसुममकरन्दमिलिन्दा
मोहितमोहितमदनगोविन्दा
कर्षितकृष्णकपोला ।।1।। विलोला खेलति बालाप्तहोला

हरिचन्दनचन्दितमुखचन्दा
चारुचकोरीकृतयदुनन्दा
आनन्दितभूगोला ।।2।। विलोला खेलति बालाप्तहोला

स्वसदयहृदयपटलपरिपालित-
विविधरागरयकेलोच्छलित-
सुखसागरकल्लोला ।।3।। विलोला खेलति बालाप्तहोला

मन्दसुगन्धितलुनकृततलिने
वन्द्यकलिन्दजयमुनापुलिने
विहरन्ती चटुलोला।।4।। विलोला खेलति बालाप्तहोला

निजकृपया कवलिततापत्रय-
शापपापपीडादिसमुच्चय-
रूपकटोलपटोला ।।5।। विलोला खेलति बालाप्तहोला

समसुरनरमुनिमण्डलमहिता
श्रीराधामोहनयुतिविहिता
खेला सततमतोला ।।6।। विलोला खेलति बालाप्तहोला

बाला +आप्तहोला अर्थात् प्राप्तहोला विलोला (चञ्चला सती) बाला (श्रीराधा) खेलति।

उत्साह और उमंग का पर्व - होली

देवर्षि कलानाथ शास्त्री
(राष्ट्रपति सम्मानित), प्रधान सम्पादक ''भारती''संस्कृत मासिक
पीठाचार्य, भाषामीमांसा एवं शास्त्रशोध पीठ - विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर
पूर्व अध्यक्ष - राजस्थान संस्कृत अकादमी
आधुनिक संस्कृत पीठ - जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय
पूर्व निदेशक - संस्कृत शिक्षा एवं भाषा विभाग, राजस्थान सरकार
सदस्य - संस्कृत आयोग, भारत सरकार

होली और दिवाली उत्तर भारत के दो ऐसे प्रमुख पर्व हैं, जो मुहावरों तक में रच बस गए हैं, वैसे किसी न किसी रूप में ये सारे देश में मनाए जाने वाले राष्ट्रीय पर्व हैं। होली तो अन्तर्राष्ट्रीय पर्व कहा जा सकता है, क्योंकि वसंत के प्रारम्भ में इस प्रकार के उत्सवों की परम्परा, जिसमें सारी कटुताओं और संकोचों को भूल कर सभी वर्गों के नर-नारी उन्मुक्त हास-परिहास और स्वच्छंद विचरण करते हैं, विश्व के सभी देशों में पाया जाता है। पश्चिमी देशों में 'आल फूल्स डे' (जो 'फूल्स डे' के नाम से ज्यादा प्रसिद्ध है और आजकल एक अप्रेल को मनाया जाता है) जैसे अनेक उत्सवों की परम्परा है, जिसमें स्वयं मूर्ख बन कर तथा लोगों को मूर्ख बना कर एक खास तरह का आनन्द लिया जाता है।

भारत में यह उत्सव वेदकाल से ही किसी न किसी रूप में चला आ रहा है। वेदकालीन यज्ञों में वैश्वदेव नाम का यज्ञ फाल्गुन की पूर्णिमा को किया जाता था, जिसमें सभी देवताओं के लिए भोज्य पदार्थ बनाये जाते थे। इसी प्रकार नया धान आने पर उसे पहले आहुति के रूप में देवताओं को समर्पित कर उसके बाद ही उपयोग में लिये जाने की परंपरा थी। वर्षा में फसल के समय किये जाने वाले इन यज्ञों को आग्रयण या नवधान्येष्टि कहा जाता था। वेदकालीन यह परम्परा अब तक चली आ रही है। होली की अग्नि में नये धान को भूनने की प्रथा अब भी है। लगता है यह वैदिक परम्परा चाहे किसी न किसी रूप में सदा से चलती रही हो, इस उत्सव का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पहलू मदनोत्सव या वसंत के प्रारम्भ में खुली उमंगों की अभिव्यक्ति के उत्सव के रूप में मनाये जाने वाला आनन्द बन गया। इस दृष्टि से यह एक बहुत बड़ा ऋतुपर्व है। ऐसा पर्व ज्योतिषशास्त्र के अनुसार वसंतसम्पात और शरत् सम्पात के समय आता है। वसंतसम्पात (जिसे अंग्रेजी में वर्नल एक्विनोक्स कहते हैं) तब होता है, जब सूर्य विषुवत् रेखा पर होता है अर्थात् रात और दिन बराबर होते हैं। इसी प्रकार शरत् सम्पात में भी रात और दिन बराबर होते हैं। ऐसा लगता है, कि मूलतः शरत्

सम्पात (जिसे अंग्रेजी में आटम्नल एक्विनोक्स कहते हैं) के अवसर पर मनाये जाने वाले उत्सवों की परम्परा अब दिवाली में समाहित हो गयी है और वसन्त संपात के उत्सवों की परम्परा होली में।

होली के साथ प्रहलाद की जो धार्मिक कथा जुड़ गयी है, उसे विद्वान बहुत बाद की घटना मानते हैं। प्राचीन ग्रंथों में इन दिनों मनाये जाने वाले जिन उत्सवों का वर्णन मिलता है, वे पूर्णतः नागरिक और सामाजिक उत्सव हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र में फाल्गुन मास में मनाये जाने वाले अनेक वासन्ती उत्सवों का विवरण है। पुष्पावचायिका नामक क्रीड़ा भी इस समय की जाती थी, जिसमें पुष्प क्रीड़ा और नृत्य गीत आदि का रिवाज था। इसी ऋतु में बाहर जाकर पिकनिक मनाने जैसी क्रीड़ाएँ भी की जाती थीं। आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व हुए 'कामसूत्रकार' वात्स्यायन ने अभ्यूषखादिका नाम की एक ऐसी ही क्रीड़ा का वर्णन किया है, जिसमें घर से बाहर किसी उद्यान में कंडों पर चूरमा या बाटी जैसी चीजें बनायी और खायी जाती थीं। सुवसन्तक और मदनोत्सव जैसे वसन्ती उत्सवों का भी कामसूत्र तथा अन्य प्राचीन साहित्य में उल्लेख है। लगता है सुवसन्तक की परम्परा वसन्तपंचमी के रूप में और मदनोत्सव की परम्परा पूरी तरह होली के उत्सव के रूप में आज भी अक्षुण्ण चली आ रही है। युवक युवतियों की स्वच्छंद रंग क्रीड़ा के जिस उत्सव का उल्लेख प्राचीन काव्यों में मिलता है, आज तक इसका वैसा ही रूप चला आ रहा है। साहित्य के लिए ही नहीं, हिन्दी फिल्मों के लिए भी यह उत्सव उन्मुक्त अठखेलियों और हंसी खुशी का मधुकोष लुटाने वाला एक अटूट खजाना खोल देता है। रंगों के उड़ते बादल और प्रेमियों के उन्मुक्त प्रणय-निवेदन का जो रूप आज की हिन्दी फिल्में होली के बहाने चित्रित करती हैं, ठीक वही आज से लगभग डेढ़ दो हजार वर्ष पूर्व लिखे प्राकृत के काव्यग्रंथों में भी मिलता है, यह क्या कम आश्चर्य की बात है?

शालिवाहन द्वारा संकलित गाथा सप्तशती प्राकृत गाथाओं का अनूठा संग्रह है, जिसमें जनपदों के निश्छल लोकजीवन और अछूती लोक-भावनाओं का अद्भुत रूप में सरस वर्णन मिलता है। ग्रामीण युवक-युवतियों की जो क्रीडाएँ मदनोत्सव के अवसर पर सम्पन्न होती थीं, वे इन गाथाओं में वर्णित हैं, उनसे इसकी दोनों परम्पराएँ स्पष्ट हो जाती हैं, रंगक्रीड़ा की, यहाँ तक कि कीचड़ मलने और गुलाल उछालने की उन्मुक्त क्रीड़ाओं की परम्परा तथा श्रृंगार भावनाओं की खुली अभिव्यक्तियों की परम्परा । एक गाथा में बताया गया है कि मदनोत्सव पर ग्रामीण युवतियों का सर्वोत्तम आभूषण होता है कुसुंभी (टेसू के) रँग से रँगी हुई उनकी चोलियाँ ! इससे भी स्पष्ट होता है, कि होली मदनोत्सव का ही उत्तराधिकारी उत्सव है। एक अन्य गाथा में एक नवयुवती अपनी सखी से परिहास करती है, कि जिस नवयुवक ने तुम्हें कीचड़ का श्रृंगार दिया है, वह तुम्हारे स्नेह का तो अधिकारी पहले से ही हो गया है। इन्ही गाथाओं की रँगक्रीड़ाओं के वर्णनों का आधार लेकर हिन्दी कवियों ने भी अनेक सुललित पद्य लिखे हैं। एक उदाहरण

ही पर्याप्त होगा। गाथा सप्तशती की एक गाथा इस प्रकार है

आदाय चूर्णमुष्टिं , क्व च महौत्सुक्येन वेपमानायाः।
प्रियमवकिरामि पुर , इति हस्ते गन्धोदकं जातम् ।।

नायिका खड़ी है - होली के दिन नए प्रिय पर छिड़कने को गुलाल उसके हाथ में है। खुशी और उत्सुकता से काँप रही है और सोचती है, कि अभी लपक कर प्रियतम पर लपेट दूँगी। पर यह क्या? उत्सुकताजन्य स्वेद के कारण गुलाल तो हाथ की हाथ में रंग बन गयी।

इसी का आधार लेकर बिहारी सतसई में महाकवि बिहारी ने भी एक दोहा लिखा है-

मैं लै दयो, लयो सु कर, छुअत छनक गौ नीर।
लाल तिहारो अरगजा, उर लै लग्यौ अबीर ॥

विरहिणी नायिका ताप से इतनी जल रही है, कि नायक ने जब उसके लिए अरगजा (रंगलेप) भेजा और उसने अपने हाथ से उसे अपने शरीर पर लगाया, तो विरह ताप की गर्मी से सारा पानी सूख गया और वह रंग गुलाल बन गया।

प्रायः प्रत्येक युग की संस्कृत-रचनाओं में होली के इस उत्सव की रंगक्रीड़ाओं का वर्णन मिलता है। छठी शताब्दी में हुए हर्षवर्धन सम्राट् ने रत्नावली नाम से एक नाटिका लिखी है, जिसमें होली के समय कौशाम्बी नगर में सार्वजनिक रूप से राजमार्गों पर नागरिकों द्वारा उड़ायी जाने वाले गुलाल और अबीर से सारी दिशाओं के रँग जाने का सुन्दर वर्णन मिलता है-

कीर्णैः पिष्टातकौघैः कृतदिवसमुखैः कुंकमक्षोदगौरे
हेमालंकारभाभिर्भरनमितशिरः शेखरैः कैंकिरातैः।
एषा वेषाभिलक्ष्य-स्वविभव-विजिताशेष-वित्तेश-कोषा
कौशाम्बी शातकुंभद्रव-खचित-जनेष्वैकपीता विभाति ॥

पीली गुलाल उड़ रही है, केसरिया रंग ने संध्या-सी उतार दी है, सोने से लदे नागरिकों ने कौशांबी के राजमार्गों को कुबेरपुरी से भी अधिक समृद्ध परिवेश दे दिया है, लगता है चित्रफलक पर स्वर्ण रेखाओं से कोई दृश्य उकेर दिया गया हो।

भवभूति ने अपने नाटक 'मालती माधव' में मदनोत्सव के अवसर पर मालती और माधव के प्रथम मिलन का वर्णन किया है। इस अवसर पर किसी उद्यान में पुष्पों से कामदेव की पूजा की जाती थी और युवक-युवतियाँ आमोदप्रमोद में व्यस्त रहते थे। लगभग छठी शताब्दी के विश्वप्रसिद्ध संस्कृत गद्यकार बाणभट्ट ने इस अवसर पर सामाजिक हँसी-मजाक किये जाने के विवरण बड़े रोचक ढंग से दिए हैं। साल भर जो व्यक्ति समाज को विभिन्न कारणों से अखरता था, उसे होली के अवसर पर चिढ़ाने या उसका सार्वजनिक मजाक बनाने की प्रथा उन दिनों में भी थी, यह इससे स्पष्ट होता है। बाणभट्ट ने चंडी-मंदिर के बूढ़े और कुरूप पुजारी को टूटी खटिया पर किसी बुढ़िया के साथ बिठला कर विवाह का स्वाँग रचाते हुए उसका मजाक बनाने का बहुत रोचक वर्णन किया है।

होली के अवसर पर उन्मुक्त विहार, अबीर गुलाल के खेल तथा नृत्य गीत आदि के प्रमोदों की परम्परा भारत में सदियों से रही है। मुगलकाल में बादशाहों और सामन्तों ने भी इस परम्परा को बखूबी निभाया। जहाँगीर, फर्रूखसीयर आदि से ले कर वाजिद अली शाह तक रंग और गुलाल से किस प्रकार होली खेली जाती थी, इसका प्रमाण तत्कालीन लघुचित्रों में स्पष्ट देखा जा सकता है। परवर्ती साहित्य में भी इस अवसर की उन्मुक्त अभिव्यक्ति के संकेत जगह-जगह मिलते हैं। लगता है मानव मन की इस अभिलाषा ने प्रत्येक देश में कोई न कोई ऐसा उत्सव तलाश लिया है जिसमें उन्मुक्त अभिव्यक्ति पर कोई अंकुश न हो, कोई बन्धन या सामाजिक निषेध न रहें। तभी तो वर्ष भर की कुंठाओं को विरेचित करने के इस उत्सव का कभी कभी नाजायज फायदा उठा कर लोग शालीनता की सीमा ही तोड़ देते हैं, मारपीट, कीचड़ उछालने और नशे में धुत्त होकर गाली गलौज करने से भी बाज नहीं आते। समय समय पर ऐसी निरंकुशता को शालीन परम्पराओं में बाँधने के प्रयत्न भी होते रहे हैं।

एक ऐसा ही प्रयत्न जयपुर की तमाशे की परम्पराओं में भी देखा जा सकता है। ब्रह्मपुरी में छोटे और बड़े अखाड़ों में होली के दिनों में गत दो तीन शताब्दियों से संगीतमय तमाशों (लोकनाट्य का एक रूप) की परम्परा चलती रही है, जिसमें शृंगार गीतों को राग-रागिनियों में निबद्ध कर गायन किया जाता है। होली के अवसर पर होने के कारण इनके प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में ऐसी व्यंग्योक्तियाँ भी गायी जाती थीं, जिन पर विभिन्न देवी देवताओं पर फब्तियाँ होती थीं, फिर आयोजक स्वयं अपने ऊपर व्यंग्य-विनोद करते थे और फिर नगर के सभी वर्गों और व्यक्तियों पर व्यंग्य-विनोद की बौछारें की जाती थीं। आज भी महामूर्ख सम्मेलनों के रूप में तथा होली की उपाधियाँ बाँटने के रूप में व्यंग्यविनोद की ऐसी परंपराएँ देश के सभी प्रान्तों में देखी जा सकती हैं। हर युग के साहित्य में इस उत्सव के वर्णनों और उल्लेखों से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि वसन्त के दिनों में इस प्रकार की लोक-भावनाओं की अभिव्यक्ति एक सार्वकालिक और सार्वदेशिक मानवीय मानसिकता है।

द्यावापृथिवी : स्वरूपविमर्श (२)

डॉ. रामदेव साहू
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष (वेदविज्ञान)
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर (राज.)

(गतांक से आगे)

इसी प्रकार तीसरा मत भी प्राप्त होता है कि द्यौ सूर्य ही है। पृथ्वी आग्नेयी है। इस मत का उल्लेख भी पं. मधुसूदन ओझा ने प्रस्तुत किया है-

'द्यौ सूर्य है, वह ऐन्द्र है, क्योंकि वह द्यौ इन्द्र ही है। पृथ्वी आग्नेयी है अतः वही अग्नि भी है।' (अहोरात्रवाद-7/5/20)

यह मत तैत्तिरीय संहितानुसार कहा गया है। इसके अनुसार सूर्य ही द्यौ है। इन्द्ररूप वाले स्वयं द्यौ के सूर्य में प्रतिष्ठान के कारण सूर्य ऐन्द्र कहा गया है। वही भासित होता है। द्योतमान होने के कारण वही द्यौ कहा गया है। उसके द्योतमान होने से ही ग्रह नक्षत्र तारे आदि भासित होते हैं। भाष्यकार सायण इस विषय में लिखते हैं-

द्यौ रूपी आदित्य ही मेरा पालक एवं जन्मदाता है। यहाँ द्यु में केन्द्रीभूत भौम रस विद्यमान है। उससे अन्न, अन्न से वीर्य तथा उस वीर्य से मनुष्य उत्पन्न होता है, ऐसा परम्परया जनकत्व माना गया है। जनकत्व को नियमित करने वाली यह पृथ्वी मातृस्थानीया है। अर्थात् जिस प्रकार लोक में प्राणियों के माता पिता होते हैं, ठीक वैसे ही द्यौरूपी सूर्य ही सब प्राणियों का पितृस्थानीय है तथा पृथ्वी मातृस्थानीया है। माता पिता रूपी द्यौ एवं पृथिवी से सभी पदार्थ निष्पन्न होते हैं।

इस मत के अनुसार द्यौ सूर्य ही सभी देवताओं का रश्मि रूप से धारणकर्त्ता है और पृथ्वी प्राणियों की धारण करने वाली है। द्यौ ज्योतिर्मयी है, जबकि पृथ्वी वाङ्मयी है। जैसा कि कहा गया है -

जो प्रकाशमान देवता हैं, वे सब द्युलोक में ही संस्थित हैं। जो शब्दोच्चारण करने वाली प्राणी हैं, वे पृथ्वी पर ही संस्थित हैं। देवता एवं प्राणी ही सृष्टि कहे गये हैं। प्राणियों में भी देवता ही संस्थित होते हैं। (अहोरात्रवाद - 7/5/24)

अनेक महर्षियों ने इस मत का खण्डन किया है। उनका कहना है कि प्राचीन काल में महर्षि विश्वामित्र ने द्युलोक एवं पृथ्वीलोक दोनों की स्थिरता का प्रतिपादन किया था, जो ऋग्वेद के दशम मण्डल में उपलब्ध होता है ।

किन्तु विचारणीय यह है कि सूर्य की प्रतीयमान स्थिरता नहीं हैं, अतः सूर्य कैसे द्यौ संज्ञा को प्राप्त कर सकता है। और भी, भूगम्य मार्ग की स्थिरता की अपेक्षा से ही इन दोनों द्यौ एवं पृथ्वी की समानान्तरता संगत होती है।

यहाँ सायण अपने भाष्य में द्यौ एवं पृथ्वी का समानान्तर होना लिखते हैं। सामान्य का तात्पर्य है समानभाव को प्राप्त वाले होकर जाग्रत की भाँति कर्म में तत्पर रहते हैं। ये दोनों द्यौ एवं पृथिवी स्थिर एवं अचल हैं। और भी, युवती बहनों की भाँति ये दोनों युगपत् संस्थित हैं, अतः बाद में द्वन्द्वनाम से कहे जाते हैं। ऊर्वी का अर्थ है पृथिवी, किन्तु यह शब्द द्यावापृथिवी के लिए भी आता है। 'बहुले' शब्द दूर का वाचक होने के साथ साथ द्यावापृथिवी का भी वाचक है। 'अन्ते' शब्द, 'रोदसी' शब्द तथा 'पुरोहिते' शब्द भी द्वन्द्वसूचक पद हैं जो द्यावापृथिवी के लिए व्यवहृत होते हैं। स्वयं ही विरोध के कारण जो सरण करती है अर्थात् अन्य कुल में गमन करती है, उसे स्वसा कहते हैं। ये दोनों एक दूसरे की ओर गतिशील होते हुए भी एक दूसरे से मिश्रित एवं अमिश्रित स्थिति वाले हैं। ये अचल स्थान के रूप में स्थित हैं। इस कथन में संचरण करते हुए इन दोनों के नियत अन्तर से इनके योग को प्रदर्शित करते हैं। इस अभिप्राय से ही कहते हैं, कि ये सामान्य हैं तथा वियुत (पृथक्) हैं। इस प्रकार सक्रिय इन दोनों का सदैव समानान्तर होना सूचित किया गया है।

ऐसा मानने पर तो सूर्य एवं पृथिवी का सदैव समानान्तर होना उपपन्न नहीं होता। जैसा कि गर्मी के प्रारम्भ में सूर्य और पृथिवी के बीच का अन्तर समान न होकर अधिक हो जाता है, किन्तु सर्दी के प्रारम्भ में वही अन्तर न्यून हो जाता है, ऐसा ज्योतिष वेदाङ्ग से भी प्रमाणित हैं। अतएव महर्षि वत्सार, बृहस्पति, एवं नकुल प्रतिपादित करते हैं कि द्यौ सूर्य नहीं है। सूर्य तो द्यौ के मध्य में विद्यमान है। द्यौ तो लोकों एवं दिशाओं को आवृत्त करता है, जबकि सूर्य उन लोकों एवं दिशाओं को विवृत करता है। अतएव द्यौ सूर्य से भिन्न है। स्वरूप की दृष्टि से भी वह भिन्न ही है। अतएव पं. ओझा महोदय लिखते हैं-

'सूर्य द्यौ नहीं है वह तो द्यौमध्य में स्थित हो कर उन लोकों को विवृत करता हुआ दिशाओं को विवृत करता है। ऐसा महर्षि वत्सार, बृहस्पति एवं नकुल ने भी कहा है।' (अहोरात्रवाद - 7/7/8)

एक अन्य मत यह है कि व्योम अर्थात् आकाश ही द्यौ है। देवताओं की प्रवृत्ति (कार्यारम्भ) उस आकाश से ही होती है। जैसे प्राणियों (सजीवों) का प्रवृत्तिस्थान पृथ्वी है, ठीक उसी प्रकार देवताओं का प्रवृत्ति स्थान द्यौ अर्थात् व्योम (आकाश) ही है। उससे भिन्न नहीं है। अहोरात्रवाद में इस मत का निरूपण निम्न शब्दों में किया गया है-

'द्यौ व्योम को कहते हैं क्योंकि उन देवताओं से वही लक्षित होता है। गो, देव एवं कुल की प्रवृत्तियाँ भी उस

व्योम से ही सम्भव होती हैं।' (अहोरात्रवाद - 7/8/3)

किन्तु व्योम या आकाश की शून्य होने के कारण द्यौरूपता सिद्ध नहीं होती। और न ही उसका लोक होना उपपन्न होता है। जैसे पृथ्वीलोक शून्य नहीं है अपितु आधारमय है, वैसे ही द्यौ भी आधारमयी होनी चाहिए। और भी, यदि व्योम (आकाश) को ही द्यौ मानें, तब तो उसका कोई स्वरूप ही नहीं होगा। अतः व्योम के स्वरूप की अनिर्वचनीयता के कारण भी द्यौरूपता असिद्ध ही है। इस मत का यह खण्डन भी वहाँ इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है-

'मतान्तर में व्योम अकेला द्यौ नहीं है। वह तो अनिर्वचनीय है। उसे यहाँ अन्तरिक्ष शब्द से भी कहा जाता है। पृथ्वी की भाँति ही वह द्यौ तो निर्वचनीय स्वरूप वाली, मूर्त्तिमती (आकारमयी) तथा प्रकट में दृश्यमान मानी जाती है।' (अहोरात्रवाद - 7/8/13)

अब कोई दूसरे विद्वान् कहते हैं, कि यह द्यौ संवत्सर नाम से कहा जाता है। यहाँ संशय होता है कि अन्यत्र वेद में वही संवत्सर प्रजापति है ऐसा भी कहा गया है। और भी, ज्योतिष वेदांग में संवत्सर काल का निर्वाहक मात्र है ऐसा माना गया है। वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। फिर उसकी लोकरूपता कैसे हो सकती है ?

श्रुति में और भी कहा गया है -

'यह प्रजापति बारह स्वरूपों से परिच्छिन्न है। अग्नि, आदित्य, सोम, पशु, वायु, मृत्यु, पृथ्वी, द्यौ, अग्नि, आदित्य, मन एवं संवत्सर ये इसके बारह स्वरूप हैं।'

इस श्रुति में द्यौ को संवत्सर से पृथक् कहा गया है। यदि ऐसा है तो द्यौ कैसे संवत्सर हो सकता है। इस विषय में कहते हैं, कि द्यौ को उपलक्षण रूप से संवत्सर कहा गया है, क्योंकि सूर्यरश्मियों में विद्यमान प्रकाशमय सभी प्राण नाना धर्मों में विभक्त देव ही हैं, ऐसा कहा जाता है। और वे जहाँ जहाँ गति करते हैं, वहाँ वहाँ द्यौ होता है। इस प्रकार इस 'द्यौ' का सम्बन्ध देवताओं की गति से है, न कि स्थान विशेष से।

और यह भी कहा गया है कि सूर्यमण्डल को ही 'स्वः' शब्द से कहा गया है। देवता वहाँ से गति का आरम्भ करते हैं तथा वहीं वापस लौट आते हैं। अतएव सूर्यमण्डल से ले कर जहाँ तक सूर्यरश्मियों का फैलाव होता है, वहाँ तक का स्थान ही द्यौ है, ऐसा मानना चाहिए। इस विषय में श्रुति भी निर्देश करती है -

'यह जो गति है वही प्रतिष्ठा है। जो यह सूर्य तपता है, उसकी जो रश्मियाँ हैं वे शोभनकार्य वाली हैं तथा उनकी जो उत्कृष्ट प्रभा है, वही प्रजापति है तथा वही स्वर्ग नामक लोक है।'

इस प्रकार उपलक्षण से ही इस द्यौ की स्वर्ग संज्ञा भी उपपन्न होती है। वह द्यौ या स्वर्ग इस देवगति का आधार है। जैसे पृथ्वी प्राणियों की गति का आधार है, उसी प्रकार द्यौ देवताओं की गति आधार है और जैसे प्राणी पृथ्वी पर स्थित रहते हुए जीते हैं, वैसे ही देवता भी द्यौ में रहते हुए ही प्रकाशित रहते हैं।

कुछ अन्य विद्वान कहते हैं - 'ऋचाओं का देवता अग्नि है तथा पृथ्वी उसका स्थान है। सामों का देवता आदित्य है तथा द्यौ उसका स्थान है।' (गोपथ - 1/29)

इस मत के अनुसार पृथ्वी अग्निदेवता की स्थिति का आधार है। पृथ्वी के बिना अग्नि उत्पन्न नहीं हो सकती। यह अग्नि मूलतः वैश्वानर नाम वाला है। इसी के कारण 'अग्निगर्भा पृथिवी है' यह भी श्रुति में कहा गया है। इसी प्रकार आदित्यदेवता की संस्थिति का आधार द्यौ है। द्यौ के अभाव में आदित्य आविर्भूत नहीं हो सकता। यह आदित्य मूल रूप में इन्द्र है। इसी कारण 'यह द्यौ इन्द्र से गर्भ धारण करती है' ऐसा भी श्रुति में कहा गया है। तात्पर्य यह है कि इन्द्र के आविर्भाव के पश्चात् ही द्यौ में पाँच प्रकार के सृष्टिबीजों का वपन सम्भव होता है। पृथ्वी के ही यज्ञमय एवं अन्नमय होने के कारण वे सृष्टिबीज पृथ्वी के प्रति सक्रिय हो जाते हैं अर्थात् वे पृथ्वी की ओर गतिशील हो जाते हैं। उन्हीं से यह सृष्टि सम्भव होती है।

'द्यौ' के मनोमय होने के कारण पदार्थों की उपकल्पना सम्भव होती है। इसी प्रकार पृथ्वी के वाङ्मय होने के कारण पदार्थों में सजीव भी सम्भव होते हैं। 'वाक् और मन ये दोनों हविर्धान हैं' ऐसा कौशीतकि श्रुति में भी कहा है। द्यावापृथिवी के विषय में तो पहले ही भगवान् एतरेय ने भी कहा है - 'द्यावापृथिवी देवताओं के हविर्धान थे। वे ही आज भी उनके ही हविर्धान हैं।' इस प्रकार वास्तव में तो द्यावापृथिवी ही सोम रूपी हवि को धारण करते हैं। अतएव सोम ही इनका गर्भ कहा गया है। गर्भ में विराजमान होने से यही सोम राजा भी कहा गया है।

'द्यावापृथिवी का यह जो गर्भ है, वही सोम नाम राजा है।' इस प्रकार द्यावापृथिवी के स्वरूप एवं स्वरूपगत वैशिष्ट्य को कहा गया।

ब्राह्मी लिपि : उद्भव एवं विकास

आनन्द शर्मा
लिपि विशेषज्ञ
पाण्डुलिपि एवं लिपि विज्ञान विभाग
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर

ब्राह्मी लिपि भारतवर्ष की सबसे प्राचीनतम लिपि है जो पूर्णतः पढ़ी जा सकी है। दक्षिण एशियायी क्षेत्र की अधिकांश लिपियों की जननी ब्राह्मी लिपि है। यह लिपि हमें सर्वप्रथम कश्मीरी एवं मौर्यकालीन अभिलेखों में बायें से दायें लिखी हुई देखने को मिलती है। ये अभिलेख पहाड़ियों की चट्टानों, शिलास्तम्भों और शिलाफलकों पर उत्कीर्ण हैं।

भारतवर्ष में पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण तक इस लिपि में लिखे हुए लेख आज भी विद्यमान हैं, जो इसकी सर्वव्यापकता के परिचायक हैं। जबसे इस लिपि का उद्वाचन हुआ है, यह सिद्ध हो गया है कि भारतीय उपमहाद्वीप सहित दक्षिण-पूर्व एशिया, श्रीलंका तथा तिब्बत आदि देशों की लिपियाँ भी देवानां प्रिय, जनानां प्रिय, प्रियदर्शी, सम्राट अशोक के शिलालेखों में प्रयुक्त ब्राह्मी लिपि से ही उद्भूत हुई हैं।

यद्यपि अशोक के लेखों में कहीं भी इस लिपि का ब्राह्मी के रूप में नामोल्लेख नहीं हुआ है, तथापि जार्ज ब्यूलर, डॉ. राजबली पाण्डेय आदि प्रसिद्ध पुरातत्त्वविदों का मानना है, कि इस लिपि को ब्राह्मी नाम दिया जा सकता है, क्योंकि अधिकांश भारतीय साहित्य में उद्धृत लिपियों की सूची में ब्राह्मी को ही प्रथम स्थान दिया गया है। समय के साथ-साथ इस लिपि में काफी परिवर्तन भी हुए। एक समय ऐसा भी आया जब इस लिपि को पढने-लिखने वाले ही नहीं रहे और यह मात्र शिलाओं, ताम्रपत्रों, लोहस्तम्भों, मृत्पात्रों अथवा सिक्कों पर ही लिखी रह गयी। बड़े से बड़े विद्वान भी 7वीं-8वीं शताब्दी तक की लिपियाँ ही पढ़ पाते थे, लेकिन इससे पूर्व-काल की लिपि को पढ-पाना उनके लिए असंभव था। कहा जाता है कि ई.सन् 1356 में फिरोजशाह तुगलक ने जब मेरठ और दिल्ली-टोपरा के अशोक स्तंभों को दिल्ली मँगवा कर उन्हें पढ़ने के लिए विद्वानों की सभा में रखवाया, तो कोई भी विद्वान उन्हें पढ़ नहीं पाया। मुगल सम्राट् अकबर को भी इन लेखों का अर्थ जानने की जिज्ञासा थी। वह इन लेखों में उत्कीर्ण प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विषयक गूढ रहस्य को जानना चाहता था, परन्तु उसे भी ऐसा कोई विद्वान् नहीं मिला, जो उन लेखों को पढ़ कर अर्थ समझा सके।

ई.सन् 1784 में जब 'एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' की स्थापना हुई तब भारतीय प्राचीन इतिहास, शिल्प एवं लिपि-विज्ञान में रुचि रखने वाले विद्वानों को प्रोत्साहन एवं पुनर्बल मिला, उन्होंने इन प्राचीन लिपिबद्ध लेखों को पुनः पढने का प्रयास शुरू किया। ई.सन् 1835-37 में इस लिपि को सर्वप्रथम पढने का श्रेय पाश्चात्य पुरातत्त्वविद सर-जॉन-प्रिंसेप को जाता है, जिन्होंने दस वर्ष तक अथक प्रयास कर आखिरकार इस लिपि के सभी अक्षरों को पढने में सफलता

प्राप्त की और एक सर्वमान्य वर्णमाला का संकलन हुआ। इसके बाद ब्राह्मी लिपिबद्ध लेखों को एक के बाद एक आसानी से पढा जाने लगा।

गुजरात में ब्राह्मी लिपि का सबसे प्राचीन प्रारूप मौर्य सम्राट अशोक के गिरनार शिलालेख में प्राप्त होता है जो ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी का है। अशोककालीन शिलालेखों की प्रचुरता से सिद्ध होता है कि मौर्यकाल में इस लिपि का उत्तरी भारत तथा लंका में अत्यधिक प्रचार था। सम्राट अशोक ने इन लेखों में तत्कालीन राजाज्ञा, धर्म संबंधी नीति-नियम तथा अहिंसा प्रचारक उद्घोषों को उत्कीर्ण कराया और इसे 'धम्मलिपि' की संज्ञा दी। जैन आगम ग्रन्थ 'पञ्जवणासुत्त' तथा 'समवायांगसुत्त' में अठारह लिपियों का उल्लेख मिलता है, जहाँ इस लिपि का 'बंभी लिवी' के रूप में नामोल्लेख हुआ है। अठारह लिपियों की नामावली में ब्राह्मी लिपि का नाम सबसे पहले है। बौद्ध ग्रन्थ 'ललितविस्तर' में 64 लिपियों का नामोल्लेख हुआ है, जिनमें 'ब्राह्मी' तथा 'खरोष्ठी' लिपियों का नाम सर्वप्रथम है। जैन आगम 'भगवतीसूत्र' में भी प्रारंभ में ही 'नमो बंभीए लिवीए' कहकर इस लिपि की वंदना की गयी है। अतः कहा जा सकता है कि इसका एक नाम 'बंभी' लिपि के रूप में प्रचलित था और उस समय इसका बहुत आदर था। खरोष्ठी लिपि के अक्षर चित्रात्मक होने के कारण इन्हें सही सही पढ़-पाना अति कठिन और भ्रामक रहा होगा, अतः इसका प्रचलन अधिक नहीं हो पाया। दूसरा एक और प्रमुख कारण यह भी रहा, कि यह लिपि अर्बीपर्सियन लिपियों की तरह दायें से बायें लिखी जाती थी, जिसका अनुकरण संभवतः भारतीय पण्डितों के लिए कठिन रहा होगा। आज भी इस लिपि में उत्कीर्ण लेखों को पढ़ने में पुरातत्त्वविद प्रयासरत हैं, लेकिन ब्राह्मी जैसी सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है। भारतवर्ष में प्राप्य प्राचीनतम लिपि अशोक-कालीन ब्राह्मी लगभग 300 ई.पू. की है। यद्यपि पिपरावा का मटके पर लिखा हुआ लेख तथा बडली का खण्ड लेख 400-500 ई.पू. के, हडप्पा तथा मोहनजोदडो की मुद्राएँ 1000 ई.पू. की तथा हैदराबाद संग्रहालय के बर्तनों पर उत्कीर्ण 5 चिह्न संभवतः 2000 ई.पू. के भी पाए गए हैं, जिनमें मात्राएँ स्पष्ट हैं और अशोककालीन लिपि के सदृश हैं, परन्तु बोधगम्य न होने के कारण इनसे अभी तक कोई महत्त्वपूर्ण परिणाम प्राप्त नहीं हो सका है।

ब्राह्मी लिपि नामकरण अवधारणा

ब्राह्मी लिपि के उद्भव एवं नामकरण की जब चर्चा करते हैं, तो हमें प्रमुखरूप से दो विचारधाराएँ दिखायी पड़ती हैं- (1) वैदिक और (2) जैन। (1) वैदिक परंपरानुसार इस लिपि के सर्जक परम पिता परमेश्वर देवाधिदेव ब्रह्मा हैं, जिन्होंने सृष्टि-रचना के समय इस लिपि की रचना की और उनके नाम पर ही इस लिपि का ब्राह्मी नाम पड़ा । एक मान्यता ऐसी भी है कि प्राचीनकाल में लिखने-पढ़ने का काम ब्राह्मण करते थे, अतः ब्राह्मण शब्द से इस लिपि का नाम ब्राह्मी पड़ा। (2) जैन परंपरा के अनुसार प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ थीं- ब्राह्मी और सुन्दरी। ऋषभदेव ने ही विश्व को सर्वप्रथम असि-मसि-कृषि का सिद्धान्त दिया। उन्होंने मसि सिद्धांत के तहत अपनी बड़ी बेटी ब्राह्मी को यह लिपि सिखायी, अतः इस लिपि का नाम ब्राह्मी पड़ा।

ब्राह्मी लिपि की विशेषताएँ

1. ब्राह्मी लिपि भारतवर्ष की सबसे प्राचीन लिपि है।

2. अधिकांश भारतीय उपखंड की लिपियाँ इसी लिपि से उद्भूत हुई हैं। अतः ब्राह्मी को समस्त लिपियों की जननी कहा जाता है।

3. इस लिपि का ज्ञान भारतवर्ष में प्रचलित अन्य प्राचीन लिपियों को सरलता पूर्वक सीखने-पढ़ने एवं ऐतिहासिक तथ्यों को समझने में अतीव सहायक सिद्ध होता है।

4. यह लिपि अपने समय की सर्वमान्य लिपि होने के कारण इसे राजाश्रय प्राप्त था।

5. वैदिक-जैन-बौद्ध आदि धर्मग्रन्थों का आलेखन सर्व प्रथम इसी लिपि में हुआ और इसे अन्य लिपियों की तुलना में अग्रक्रम में रखा गया।

6. यह लिपि शिलापट्टों अथवा ताम्रपत्र-लोहपत्र आदि पर नुकीली कील द्वारा खोद कर बायें से दायें लिखी जाती थी।

7. ब्राह्मी लिपि में शिरो-रेखा नहीं होती है, जो इसकी अपनी विशेषता है। ग्रंथ एवं गुजराती आदि लिपियाँ भी शिरोरेखा के बिना ही लिखी जाती हैं, लेकिन शारदा, नागरी आदि लिपियों में शिरोरेखा का प्रचलन है।

8. इस लिपि में अधिकांशतः समस्त उच्चरित ध्वनियों हेतु स्वतन्त्र एवं असन्दिग्ध चिह्न विद्यमान हैं, अतः इसे पूर्णतः वैज्ञानिक लिपि कहा जा सकता है।

9. अनुस्वार, अनुनासिक व विसर्ग हेतु स्वतन्त्र चिह्न प्रयुक्त हुए हैं, जो आधुनिक लिपियों में भी यथावत स्वीकृत हैं।

10. व्याकरण-सम्मत उच्चारण स्थान के अनुसार वर्गों का ध्वन्यात्मक विभाजन भी इसमें प्राप्त होता है।

11. इस लिपि का प्रत्येक अक्षर एक ही ध्वनि का उच्चारण प्रकट करता है, जो समझने में सरल और पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है।

12. इस लिपि में अक्षरों का आकार समान व शलाका प्रविधि से अंकित करने का विधान मिलता है।

13. इस लिपि में अक्षरों की बनावट अत्यन्त सरल है। समस्त अक्षर सरल ज्यामितिक चिह्नों द्वारा निर्मित हैं।

14. इस लिपि में मात्राओं के लिए अलग-अलग चिह्न प्रयुक्त हुए हैं, जो अक्षर के ऊपर या नीचे बायें अथवा दायें लगे हुए मिलते हैं।

15. इस लिपि में दीर्घ मात्राओं का प्रयोग अत्यन्त अल्प हुआ है।

16. इस लिपि में संयुक्त अक्षरों का प्रयोग बहुत कम हुआ है।

17. विशेषतः संयुक्ताक्षर लिखते समय जिस अक्षर को पहले बोला जाए, उसे ऊपर और बाद में बोले जाने वाले अक्षर को उसके नीचे लिखा जाता था। अर्थात् ब्राह्मी लिपि में संयुक्त अक्षर एक-दूसरे के नीचे लिखे जाते थे। ग्रंथ लिपि में भी इसी पद्धति का अनुसरण किया गया है। प्राचीन-नागरीलिपिबद्ध पाण्डुलिपियों में भी कुछ संयुक्ताक्षर इसी प्रकार ऊपर से नीचे की ओर लिखे हुए मिलते हैं।

अलंकारमुक्तावली में उपमालक्षण – एक विमर्श

शिवानी
शोधछात्रा, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

पंडित जगन्नाथोत्तरवर्ती संस्कृत मनीषियों में आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय का महनीय स्थान है। इन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र, दर्शन व व्याकरण विषय पर अनेकानेक ग्रंथों की रचना कर संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया है। ये पदवाक्यप्रमाणज्ञ आचार्यों में सुप्रतिष्ठित हैं।[1] इनकी काव्यशास्त्र से सम्बद्ध रचनाएँ अलंकारकौस्तुभ, अलंकारप्रदीप, रसचंद्रिका, कवीन्द्रकर्णाभरण, अलंकारमुक्तावली इत्यादि है। अलंकारमुक्तावली में आचार्य मम्मट-प्रतिपादित 61 अर्थालंकारों का सोदाहरण विवेचन किया गया है।

साम्य सौन्दर्य का मूल है, जिसकी स्पष्ट प्रतीति उपमालंकार में होती है। परस्पर भिन्न दो वस्तुओं में विद्यमान सादृश्य का कथन अनेक प्रकार से किया जा सकता है, जिसके आधार पर काव्यशास्त्रियों ने सादृश्यमूलक अलंकारों के विभिन्न भेद स्वीकार किये हैं। इनमें उपमालंकार में सादृश्य का कथन अभिधा वृत्ति से किया जाता है और उसमें सादृश्य की स्फुट प्रतीति होने से आचार्यों ने उपमालंकार को ही सभी अलंकारों का मूलतत्त्व स्वीकार किया है।[2] अलंकारमुक्तावली में उपमालंकार का लक्षण उद्धृत करते हुए उसके स्वरूप को व्याख्यायित किया है - ''**तत्रैकवाक्यवाच्यं सादृश्यं भिन्नयोरुपमा।**''[3] यहाँ '**तत्र**' पद का अभिप्राय गम्यसादृश्यपर्यवसायित्व अर्थात् सादृश्यमूलक अलंकारों से है।[4] लक्षण में प्रयुक्त '**एकवाक्य**' पद उपमेयोपमालंकार के लक्षण में इस लक्षण की में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए है, जो कि उपमेयोपमालंकार से उपमा के पृथक्त्व का बोध कराता है।

उपमेयोपमालंकार में दो भिन्न वस्तुओं में परस्पर उपमान व उपमेयभाव प्रकट किया जाता है अर्थात् जो वस्तु प्रथम वाक्य में उपमेय रूप में वर्णित होती है, द्वितीय वाक्य में उसे उपमान एवं उपमान को उपमेय बना कर दोनों के सादृश्य का वर्णन किया जाता है। इस प्रकार उपमेय द्वारा उपमान के सादृश्य का वर्णन होने से इसे उपमेयोपमा कहा गया है।[5] यथा- '**चन्द्र इव मुखम्**' यहाँ एक ही वाक्य में मुखरूपी उपमेय का चन्द्ररूपी उपमान से इव पद के द्वारा सादृश्य वाच्य होने से उपमालंकार है। परन्तु यदि इसे हम '**चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्रः**' इस प्रकार कहें, तब यहाँ प्रथम वाक्य में वर्णित उपमान '**चन्द्र**' का द्वितीय वाक्य में उपमेय तथा उपमेय '**मुख**' का उपमान रूप में सादृश्यवर्णन होने से द्वितीय वाक्य में उपमेय से उपमान की तुलना होने से उपमेयोपमालंकार है। इस प्रकार उपमेयोपमा में दो ही वस्तुओं में परस्पर सादृश्य का प्रतिपादन दो वाक्यों में होता है तथा उनसे भिन्न तृतीय उपमान का सर्वथा अभाव होता है।

यदि मम्मट के अनुसार उपमा का लक्षण **'साधर्म्यमुपमा भेदे'**[6] स्वीकार कर उसका स्वरूप विवेचित किया जाये, तब उपमेयोपमालंकार में भी दो भिन्न वस्तुओं के सादृश्य का वर्णन होने से उपमालक्षण अतिव्याप्त है। इसी अभिप्राय से विश्वेश्वर पाण्डेय ने अलंकारमुक्तावली में उपमालक्षण में **'एकवाक्य'** इस पद को समाविष्ट कर उपमेयोपमालंकार से उपमा की भिन्नता दिखायी है। यदि उक्त लक्षण में 'एकवाक्य' पद का समावेश न कर **'वाच्यं सादृश्यं भिन्नयोरुपमा'** एतावन्मात्र कह कर ही उपमा के स्वरूप को व्याख्यायित किया जाता, तब यह लक्षण उपमेयोपमालंकार में भी अतिव्याप्त हो जाता। अतः **'राधेय इव किरीटी भाति किरीटीव राधेयः'**[7] उपमेयोपमा में दो वाक्यों में वर्णित सादृश्य से उपमा का भेद दर्शाने हेतु लक्षण में **'एकवाक्य'** पद प्रयुक्त किया है, जिससे उपमा का लक्षण उपमेयोपमालंकार में अतिव्याप्त नहीं होता।

उपमा के लक्षण में तृतीय पद **'वाच्यम्'** है, जिसका प्रयोजन व्यंग्योपमा का निवारण बताया है। उपमा का सामान्य अभिप्राय है- दो भिन्न वस्तुओं में उनके समान धर्मों के आधार पर साम्य स्थापित करना। उपमा अलंकार में यह साम्य अथवा सादृश्य वाच्य रहता है, जबकि सादृश्यमूलक अन्य अलंकारों यथा रूपक, दीपक, तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, स्मरण, दृष्टान्त एवं निदर्शना इत्यादि में सादृश्य वाच्य न होकर व्यंग्य होता है। इन अलंकारों में उपमान एवं उपमेय के साधारण धर्म का निर्देश रहने पर भी सादृश्य की स्पष्ट एवं अभिधा वृत्ति द्वारा प्रतीति नहीं होती। अतः उक्त अलंकारों में साधारणधर्म के आश्रय से उपमान एवं उपमेय के सादृश्य की प्रतीति व्यंजना द्वारा होती है।

उपमालंकार में उपमान एवं उपमेय में समानता की प्रतीति कराने हेतु सादृश्यवाचक इव, यथा आदि शब्दों का साक्षात् उपादान होता है जबकि रूपकादि अलंकारों में उपमान एवं उपमेय में सादृश्यवाचक पदों इवादि के शब्दशः कथित न होने से उपमान व उपमेय में विद्यमान साम्य की स्पष्टतः प्रतीति नहीं होती, अपितु उपमान व उपमेय में निहित साधारणधर्म के आधार पर होने वाली अभेदप्रतीति के द्वारा साम्य का परिज्ञान होता है। उपमालंकार का मुख्य विषय उपमान व उपमेय के सादृश्य का प्रतिपादन होता है। उपमान व उपमेय दोनों में से किसी एक के गुणोत्कर्ष अथवा गुणापकर्ष का वर्णन न कर गुणक्रियादि धर्मों के आधार पर उपमान व उपमेय में साम्य की प्रतीति कराना ही उपमालंकार का प्रयोजन है। जैसा कि काव्यप्रकाश की बालबोधिनी व्याख्या में भी स्पष्ट किया गया है - **(उपमानेन कर्त्रा उपमेयं कर्म) 'उप समीपे मीयते परिच्छिद्यते अनयेत्युपमा।**[8] अतएव सादृश्यमूलक अलंकारों से उपमालंकार के पार्थक्य को दर्शाने हेतु उपर्युक्त उपमालक्षण में **'वाच्यम्'** पद का समावेश किया है, जिससे सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा की प्रसक्ति नहीं होती।

लक्षण में **'भिन्नयोः'** इस पद का समावेश अनन्वयालंकार में अतिव्याप्ति के निवारण हेतु किया है। यह पद

उपमान व उपमेय के पृथक्त्व को दर्शाता है, जिसका आशय यह है कि एक ही वस्तु उपमान व उपमेय उभयरूप में नहीं हो सकती। यदि एक ही वस्तु में उपमानोपमेयभाव स्वीकार कर उनमें सादृश्य वर्णित किया जाता है, तो वहाँ अनन्वयालंकार की प्रसक्ति होगी।[9] अनन्वय पद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी **'न अन्वय इति अनन्वयः'** उपमेय व उपमान में सम्बन्धाभाव को ही सूचित करता है। अनन्वयालंकार से तात्पर्य है - एक ही वस्तु में उपमानोपमेयभाव स्वीकार कर सादृश्य की वर्णना करना। जब कवि किसी वस्तु को अद्वितीय व सर्वोत्कृष्ट रूप में वर्णित करने की इच्छा से लोक में उस वस्तु के समान अन्य वस्तु का सर्वथा अभाव सूचित करते हुए प्रस्तुत वस्तु को उसी से उपमित करता है अर्थात् वर्ण्य वस्तु की उपमा देने के लिए उससे पृथक् किसी उपमान का अभाव होने पर उसी वस्तु को उपमानरूप में कल्पित कर उपमा दी जाए, तब उसे अनन्वयालंकार कहते हैं।

साहित्यदर्पणकार ने उपमालक्षण में भिन्नयोः पद के स्थान पर **'द्वयोः'** पद प्रयुक्त किया है।[10] सादृश्यविधान हेतु निश्चितरूपेण उपमान तथा उपमेय की भिन्नता आवश्यक है। उसी वस्तु का उससे सादृश्य सम्भव नहीं है। यदि हम किसी वस्तु का उसी से सादृश्य दिखायें तो यह कदापि सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में वस्तु में विद्यमान भेद तत्त्व का लोप होने से वह वस्तु अभेद के कारण स्वयं में पूर्णतः सम्मिश्रित हो जायेगी और तब सादृश्य की प्रतीति नहीं होगी, जो कि उपमालंकार का अपरिहार्य तत्त्व है। उपमालक्षण में प्रयुक्त **'द्वयोः'** पद अनन्वयालंकार में अतिव्याप्तिवारण हेतु उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यहां एक ही उपमेयरूप वस्तु को उपमान रूप में वर्णित कर उनके साम्य का कथन किया जाता है। अतः संख्यात्मक रूप से वहाँ दो पदार्थों की उपस्थिति होने पर भी उनमें भिन्नता नहीं है। जबकि उपमालंकार में दो सर्वथा भिन्न वस्तुओं में किंचित् धर्मसाम्य के आधार पर सादृश्य का बोध कराया जाता है। इस प्रकार **'द्वयोः'** पद अनन्वयालंकार से उपमा की भिन्नता को सूचित करने में पूर्णतः समर्थ नहीं है।

इसी आशय से हेमचन्द्र व प्रतिहारेन्दुराज ने उपमान और उपमेय में सादृश्यवर्णन हेतु भिन्नता को आवश्यक मानते हुए उनकी अत्यन्त समानता का निषेध किया है।[11] अतः उनके मन में उपमालंकार में अत्यन्त साधर्म्य की अपेक्षा साम्य प्रतिपादन के लिए उपमान और उपमेय में भेद एवं अभेद दोनों का उपादान आवश्यक है। उक्तवैशिष्ट्य के आधार पर ही इसे भेदाभेदप्रधान अलंकार कहा गया है। सम्भवतः इसी कारण भामह ने उपमा से अनन्वय का भेद दर्शाने हेतु अनन्वयालंकार के लक्षण में **'असादृश्यविवक्षा'** पद का उपादान किया है।[12] इस आधार पर अनन्वयालंकार में **'पुरुष इव पुरुषः'** इस प्रकार वस्तुद्वित्व की सत्ता होने पर भी उनकी सादृश्यविवक्षा न होकर द्वितीयसदृशवस्तु का अभाव सूचित किया जाता है, अतः अनन्वय में द्वितीय सदृश वस्तु का व्यवच्छेद होता है तथा एक ही वस्तु उपमान एवं उपमेय उभयरूप में वर्णित होती है, जबकि उपमा में दोनों (उपमान व उपमेय) की पृथक्

सत्ता होती है तथा उनके किंचित् सामान्य धर्मों के आधार पर दोनों में सादृश्य के बोध द्वारा साम्य की स्थापना की जाती है।

उपमान व उपमेय दोनों में कतिपय धर्मों की समानता होने पध्र भी उनके अपने विशिष्ट गुणों की भी विद्यमानता रहती है, जिससे उपमान व उपमेय की भिन्नता का बोध होता है। यह भिन्नता सादृश्यज्ञान हेतु अतीव आवश्यक है। इसके अभाव में सादृश्यकथन (उपमान व उपमेय का) नहीं हो सकता क्योंकि किन्हीं भी वस्तुओं के धर्म में पूर्णसाम्य नहीं होता। पूर्णसाम्य के होने पर वस्तुएँ परस्पर तत्स्वरूप हो जाती हैं, सदृश नहीं। आचार्य रुय्यक ने सादृश्य को परिभाषित करते हुए कहा है, कि सादृश्य में वस्तुओं के सामान्य धर्मों के साथ ही विशिष्ट धर्म भी विद्यमान रहते हैं।[13] यद्यपि सामान्य रूप से सादृश्य व साधर्म्य दोनों पदों का प्रयोग समानता के अर्थ में ही किया जाता है, तथापि सूक्ष्मरूप से विश्लेषण करने पर इनके अर्थ में पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। साधर्म्य से अभिप्राय उपमान एवं उपमेय के सम्बन्ध-विशेष से है। दो भिन्न वस्तुओं में विद्यमान गुणक्रियादि साधारण धर्मों के ज्ञान से उनके परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान साधर्म्य है।

साधर्म्य को परिभाषित करते हुए स्पष्ट किया है- उपमान एवं उपमेय में गुण अथवा क्रियादि धर्मों के समान होने से वे सधर्म कहे जाते हैं तथा उनमें निहित धर्मों की समानता ही साधर्म्य है।[14] जैसे **'चन्द्रमिव सुन्दरं मुखम्'** में आह्लादकत्व, कान्ति इन साधारण धर्मों के आधार पर उपमेय मुख एवं उपमान चन्द्र के साम्य का बोध ही साधर्म्य है। अत एव किन्हीं दो वस्तुओं में धर्मों की समानता के आधार पर ज्ञात होने वाला सम्बन्ध विशेष ही साधर्म्य है। लक्षण में प्रयुक्त 'सादृश्यम्' पद भी विवेच्य है। साधर्म्य की अपेक्षा सादृश्य का क्षेत्र किंचित् विस्तृत है। सादृश्य में हमें वस्तुओं के साधारणधर्मों के साथ-साथ उनके विशिष्ट धर्मों का भी ज्ञान होता है तथा उनमें वस्तुओं का समग्र स्वरूप दृष्टिगत होता है।

सादृश्य शब्द की व्युत्पत्ति है **'समाना दृक् प्रतीतिः ययोः (उपमानोपमेयरूपपदार्थयोः) तौ सदृशौ, तयोर्भावः सादृश्यम् इति।**[15] सादृश्य में हमें वस्तुओं के भेद व अभेद की समान प्रतीति होती है, अतः साधर्म्य में उपमान व उपमेय के साधारणधर्म मात्र का ही ज्ञान होता है, जबकि सादृश्य में साधारण धर्म के अतिरिक्त उपमानोपमेयनिष्ठ अन्य धर्मों का भी परिज्ञान होता है एवं उससे उपमान व उपमेय के सम्बन्ध का यथोचित ज्ञान होता है। सादृश्य शब्दोपादानपूर्वक उपमालक्षण प्रतिपादित करने का एक प्रयोजन यह भी है, कि उपमा से भिन्न अन्य सादृश्यमूलक अलंकारों में साधर्म्य के विद्यमान होने पर भी सादृश्य की प्रतीति न होकर भेदाभेद इत्यादि अन्य सम्बन्धों का भी सुस्पष्ट बोध होता है।

अतः अलंकारमुक्तावली का उपमालक्षण अतिसरल, स्पष्ट व संक्षिप्त है एवं लक्षण में प्रयुक्त प्रत्येक पद सारगर्भित है, जो उपमालंकार का यथार्थस्वरूप उपस्थापित करते हुए अन्य अलंकारों से उसके वैशिष्ट्य व पार्थक्य को भी समुचित रूप से दर्शाता है।

1 श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारविद्वद्-धुरंधर श्रीविश्वेश्वरकृतौ .....।। कवीन्द्रकर्णाभरण पृ० 4

2 अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसंपदाम् । उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ।। अलंकारशेखर पृ० 34

3 अलंकारमुक्तावली पृ० 1

4 वही

5 विपर्यास उपमेयोपमा तयोः। काव्यप्रकाश पृ० 231

6 साधर्म्यमुपमा भेदे । पृ० 219

7 अलंकारमुक्तावली पृ०12

8 काव्यप्रकाश बालबोधिनी पृ० 544-545

9 उपमनोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे । अनन्वयः । । काव्यप्रकाश पृ० 231

10 साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः। साहित्यदर्पण पृ० 292

11 क. साधर्म्यं च देशादिभिर्भिन्नानां गुणक्रियादिसाधारणधर्मवत्त्वम्। अभेदे ह्येकत्वमेव स्यात् । ..... । काव्यानुशासन पृ० 39

ख. उपमानोपमेयभावश्च नात्यन्तं साधर्म्यणोपादाने सति भवति.....। काव्यालंकारसारसंग्रह वृत्ति पृ० 282-283

12 यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता । असादृश्यविवक्षातस्तमाहुरनन्वयम् ।। भामह काव्यालंकार 3/45

13 यत्र किंचित् सामान्यं कश्चिच्चविशेषः स विषयः सदृशतायाः। अलंकारसर्वस्व पृ० 40

14 समानः एकः तुल्यो वा धर्मो गुणक्रियादिरूपयोः ययोः (अर्थादुपमानोपमेययोः) तौ सधर्माणौ, तयोर्भावः साधर्म्यम् । काव्यप्रकाश बालबोधिनी पृ० 540

15 बृहद् अलंकारमीमांसा पृ० 243

भाषाशास्त्र का उद्‌भव एवं विकास

नवीन जोशी
जयपुर

यद्यपि भाषा के सर्वांग-परीक्षण और विवेचन के सम्बन्ध में जितनी व्यवस्थित और वैज्ञानिक पद्धति पर भारतवर्ष में कार्य हुआ है, उतना किसी भी देश में नहीं हुआ, फिर भी भाषा सम्बन्धी जिज्ञासा अन्य देशों में भी प्राचीन काल से ही होती रही। सर्वप्रथम यूरोप में यूनानियों ने ही यूनानी भाषा का परीक्षण और विश्लेषण आरम्भ किया। जिस प्रकार हमारे यहाँ वैदिक वैयाकरणों ने वेद की भाषा को अन्य भाषाओं के मिश्रण से बचाने के लिए व्याकरण की रचना की, उसी प्रकार सर्वप्रथम यूनान में अरस्तू ने यूनान के बाहर से आकर मिले हुए शब्दों को छाँट छाँट कर अलग किया। प्लेटो (प्लातो या अफलातून) ने सर्वप्रथम यह निर्धारित किया कि मन में उठे हुए विचार और भाषा का इतना अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है, कि हम विचार और भाषा को अलग नहीं कर सकते।

इस प्रकार अफलातून ने ही ग्लोविज्ञान और भाषाशास्त्र का अखण्ड और अभिन्न सम्बन्ध निर्धारित किया। इतना ही नहीं अफलातून ने यूनानी भाषा की सब ध्वनियों को अलग अलग करके एक क्रम में सुसज्जित किया, किन्तु क्रम वैसा वैज्ञानिक नहीं हो सका जैसा भारतीय वैयाकरणों ने किया था। अफलातून के मन और भाषा के सम्बन्ध पर विचार करते हुए सुकरात ने यह निर्णय लिया कि भाषा और मन के विचारों के बीच कोई सीधी सम्बद्धता नहीं है, तथापि इस प्रकार का सीधा सम्बन्ध रखने वाली भाषा का निर्माण अवश्य किया जा सकता है। यद्यपि अरस्तू, अफलातून और सुकरात तीनो ने यूनानी भाषा के व्याकरण से सम्बद्ध कुछ समस्याओं पर विचार किया तथापि सर्वप्रथम यूनानी व्याकरण बनाने का श्रेय थ्रॉक्स (दूसरी शताब्दी ई.पू.) को दिया जाता है।

जब यूनानी सभ्यता यूनान से हट कर रोम में जा पहुँची, तब लोग लैटिन और यूनानी दोनों भाषाओं का अध्ययन करने लगे। इन दोनों भाषाओं का एक साथ अध्ययन करते समय उन्हें यह अनुभव हुआ, कि इन दोनों भाषाओं के बहुत से शब्द परस्पर मिलते जुलते हैं। यूरोप में जब ईसाई धर्म फैलने लगा, तब लैटिन और यूनानी के साथ लोग हिब्रू भाष भी पढ़ने लगे, क्योंकि हिब्रू भाषा को वे लोग ईश्वर की या स्वर्ग की भाषा समझते थे। पारस्परिक सम्पर्क के कारण यूनान और यूरोप के लोग अरब, मिस्र, अमुरिया, बेबीलोनियाऔर असीरिया प्रदेश की भाषाओं का भी अध्ययन करने लगे किन्तु रोम साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् लैटिन की व्यापिक सामाजिक भाषा मानी जाने

लगी और यह लैटिन भी विभिन्न प्रदेशों के भाषा-भाषियों के मुख में पड़ कर इतनी अधिक भिन्न हो गयी, कि एक प्रदेश की लैटिन भाषा दूसरे प्रदेश के लिए अगम्य बन गयी, फिर भी लैटिन का इतना अधिक प्रभाव सब यूरोपीय भाषाओं पर पड़ा कि सामान्य व्यवहार के शब्दों के अतिरिक्त पारिभाषिक शब्दों का स्त्रोत केवल लैटिन भाषा ही बनी रही।

रूसो

18वीं शताब्दी में यूरोप में इतनी प्रचंड सांस्कृतिक क्रान्ति मची, कि अनेक विद्वान् पुरुष भी प्रत्येक समस्या, विषय और प्रवृत्ति पर नये ढंग से सोचने लगे।

सर्वप्रथम रूसो ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि जिस प्रकार अनेक मनुष्यों ने पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ा कर एक-दूसरे की रक्षा करने के लिए, एक दूसरे के काम में हाथ बँटाने के लिए, एक दूसरे की विपत्ति में साथ देने के लिये पारस्परिक समझौते किए और समाजों का निर्माण किया, वैसे ही लोगों ने परस्पर विमर्श करके भाषाएँ भी बना ली। रूसो का यह सिद्धान्त किसी भी बुद्धिमान को मान्य नहीं हुआ, क्योंकि किसी भी प्रकार भाषा के अभाव में न तो कोई समझौता किया जा सकता है और न किसी प्रकार की बात ही की जा सकती थी।

कोन्दिलाक

कोन्दिलाक ने कल्पना की कि सर्वप्रथम कोई भाषारहित पुरुष किसी भाषारहित स्त्री से जाकर मिला होगा और एक दूसरे ने एक दूसरे के मन की तड़पन, इच्छा और रुचि समझाने के लिए जो हाँ - हूँ किया होगा, वही पहली भाषा होगी। फिर धीरे धीरे इन अव्याकृता और निरूक्ता ध्वनियों में आरोह-अवरोह के साथ बोलने की शैली चल पड़ी होगी। धीरे धीरे उनके शिशुओं में यह आरोह - अवरोह बढ़ता चला गया होगा और इस प्रकार कुछ पीढ़ियों में उनके नाती - पोतों ने अपने अपने मन की बात समझाने के लिए बहुत से नये नये शब्द और वार्तालाप की बहुत सी शैलियाँ निकाल ली होगी, जिससे भाषा का निर्माण हो सका।

योहान गौटफ्रीड हेर्डेर

18वीं शताब्दी में भाषा की उत्पत्ति पर सबसे अधिक गम्भीर विचार योहान गौटफीड हेर्डेर ने किया । उन्होंने सर्वप्रथम भाषाओं के परीक्षण का नवीन और व्यवस्थित मार्ग निर्धारित किया। उन्हीं दिनों सुसम्लिख नामक जर्मन ने यह कहना प्रारम्भ किया कि भाषा की खोज मनुष्य ने नहीं की अपितु वह उसे सीधे ईश्वर से प्राप्त हुई है। हेर्डेर ने इसका खण्डन करते हुए कहा, कि यदि ईश्वर ने भाषा बनायी होती और उसे लाकर मनुष्य के मुँह में स्थापित किया

होता, तो वह इतने विभिन्न प्रकार की, अव्यवस्थित और बेढंगी न होती, जैसी आजकल की बहुत सी भाषाएँ दिखायी पड़ती हैं। हेर्डेर ने यदि संस्कृत पढ़ी होती तो वह इतना अवश्य मान लेता कि संसार की अन्य भाषाएँ भले ही ईश्वर प्रदत्त न हो किन्तु संस्कृत वास्तव में ईश्वर का दिया प्रसाद ही है, इसीलिए उसका गीर्वाण-गिरा या देववाणी नाम सार्थक है। हेर्डेर का मत है कि मनुष्यों ने भाषाओं का निर्माण नहीं किया तथापि जैसे-जैसे मनुष्य का कार्य व्यवहार बढ़ता गया, उसके रहन सहन में नवीनता और जटिलता की वृद्धि होती गयी, वैसे वैसे भाषाएँ भी बढ़ती और फैलती चली गयीं। जब भी मनुष्य को कुछ नई बात कहने की आवश्यकता हुई तभी भाषा ने प्रकट होकर उसकी सहायता की और अपना शब्द भण्डार बढ़ाया जो धीरे धीरे बढ़ता चला गया।

जैनिश

सन् 1794 में बर्लिन अकादमी ने उस लेखक को पुरस्कार देने का निश्चय किया जो इस बात का पूरा विवरण दे सके कि कोई भाषा कैसे परिपूर्ण बनी सकती है और उसकी परिपूर्णता के लिए कौन कौन से तत्त्व अपेक्षित हैं जिससे कि उस कसौटी पर यूरोप की अल्प प्रयुक्त भाषाओं को कस कर उनके गुण-अवगुण का परीक्षण किया जा सके। यह पुरस्कार बर्लिन के डी. जैनिश को दिया गया, जिसने गम्भीर विवेचन के साथ यह बताया कि संसार की भाषा में मनुष्य के मन और उसकी बुद्धि की गति का पूरा विवरण विद्यमान रहता है। इस आधार पर जैनिश ने परिपूर्ण भाषा की एक कसौटी बना दी और उसी कसौटी पर कस कर उसने लैटिन, यूनानी तथा यूरोप की अन्य भाषाओं की परस्पर तुलना करके उनका परीक्षण किया। इस प्रकार सर्वप्रथम 18वीं शताब्दी में हेर्डेर और जैनिश ने ही भाषाओं के समीक्षाशास्त्र की दृढ़ नींव स्थापित की।

18वीं शताब्दी में भाषाओं के परीक्षण के क्षेत्र में जितना भी प्रयास हुआ, उसमें यहीं देखा जाता रहा कि किस भाषा का, कौन-सा स्वरूप, कब, कैसे, कहाँ और किस रूप में प्रयुक्त होता था। 19वीं शताब्दी में जब अनेक उद्भट विद्वान् अनेक भाषाओं का परिज्ञान करके उनकी परस्पर तुलना और परीक्षा करने लगे, तब उस प्रसंग में लोग इस बात का भी परीक्षण करने लगे, कि किसी भी भाषा ने पूर्ण समृद्ध होकर किस प्रकार वर्तमान रूप ग्रहण कर लिया। अब वे यह जानने के प्रयत्न में लगे कि कोई भाषा कब से बोली जाने लगी, उस पर अन्य भाषाओं का प्रभाव कब पड़ा और कैसे पड़ा, उसमें अन्य भाषाओं के शब्द किस प्रकार घुलने-मिलने लगे तथा उसके प्राचीन रूप में क्यों, कैसे और कब परिवर्तन हुए। 19वीं शताब्दी में ही भाषाओं के परीक्षण के सम्बन्ध में मनुष्य की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का विवरण जोड़ दिया गया, जिससे भाषाओं के परीक्षण की नयी पद्धति का आविष्कार हुआ। विचार किया जाने लगा कि कोई भी भाषा जिस व्यवस्थित रूप में दिखायी पड़ती है, वह उसका मूल रूप नहीं है वरन् न जाने कितने परिवर्तनों, सम्पर्कों और प्रभावों से उसका वर्तमान और नवीन रूप बन सका है तथा आगे भी वह न जाने कितने रूप बदलती

रहेगी।

कूर्दो

जब यूरोपीय जातियाँ भारत से सम्पर्क करके संस्कृत का अध्ययन करने लगीं तब संस्कृत के अनके शब्द उन्हें अपनी भाषाओं के शब्दों के समान ध्वनि और अर्थ वाले दिखाई पड़े और तब उन्हें यह प्रतीति हुई कि यूरोप की भाषाओं का संस्कृत से कुछ गम्भीर सम्बन्ध अवश्य है। सर्वप्रथम फ्रांसीसी पादरी कूर्दो ने सन् 1767 ई0 में फ्रेन्च इन्स्टि्यूट को पत्र भेजा था, जिसमें अनेक संस्कृत और लैटिन शब्दों का उल्लेख करके उनका परस्पर सम्बन्ध दिखाया गया था।

सर विलियम जोन्स

संस्कृत का अध्ययन करने के पश्चात् सन् 1796 में सर विलियम जोन्स ने यह घोषणा की कि 'संस्कृत भाषा चाहे जितनी प्राचीन हो, किन्तु उसकी रचना बडी विचित्र है। यह भाषा यूनानी भाषा से कहीं अधिक परिपूर्ण और लैटिन से कहीं अधिक समृद्ध है। अलंकरण में भी वह इन दोनों भाषाओं से अधिक सुसंस्कृत और इन दोनों भाषाओं से इतनी मिलती-जुलती है, कि उसे देख कर यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता, कि यह सम्बन्ध केवल बाह्य है। वास्तव में इनका पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि भाषाओं की परीक्षा करने वाला कोई भी व्यक्ति उन तीनों को एक ही स्रोत से निकला हुआ माने बिना उनकी ठीक-ठीक परीक्षा कर ही नहीं सकता, किन्तु आज वे इतनी भिन्न हो गयी हैं कि उनके मूल स्रोत का ठीक ज्ञान नहीं हो पा रहा है। इतना ही नहीं, हम तो यह भी मान सकते हैं कि गाथिक और कैल्टिक भाषाएँ भी उसी स्रोत से निकली हैं, जिससे संस्कृत निकली है, यहाँ तक कि प्राचीन फ़ारसी को भी हम बिना बाधा के उसी के साथ जोड़ सकते हैं।'

फैड्रिक श्लेगेल

संस्कृत भाषा और साहित्य का अध्ययन करके तथा यूरोप की अनेक समृद्ध भाषाओं से उसकी तुलना करके फैड्रिक श्लेगेल ने सन् 1808 में यह निष्कर्ष निकाला कि जर्मन, यूनानी और लैटिन भाषाओं में संस्कृत के अनेक शब्द ज्यों के त्यों आ गए हैं। इसी आधार पर श्लेगेल ने विश्व की समस्त भाषाओं को दो वर्गों में विभक्त कर दिया, जिनमें से एक में उसने संस्कृत और उससे साम्य रखने वाली भाषाएँ और दूसरे वर्ग में शेष सब भाषाएँ रखीं। श्लेगेल के अनुज ए.डब्ल्यू. श्लेगेल ने भी इसी पद्धति पर भाषाओं के परीक्षण की नवीन शैली का प्रतिपादन किया और भाषाओं की परस्पर तुलना करके उनका परीक्षण करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

बौप, ग्रिम और रॉस्क

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में तीन प्रसिद्ध भाषा-शास्त्रियों ने अत्यन्त व्यवस्थित ढंग से भाषाओं के परीक्षण का कार्य किया। इनमें से एक थे जर्मनी के फ्रान्स बौप (1761 ई0), दूसरे थे जर्मनी के ही याकोब ग्रिम (1785 ई0) और तीसरे थे डेनमार्क के रास्मस रॉस्क (1721 ई.)। इनमें से ग्रिम ने तो रास्क की ही पद्धति पर कार्य किया और उसकी ही पद्धति पर भाषाओं की तुलना करके उनका परीक्षण किया किन्तु बौप की शैली पूर्णतः उसकी अपनी थी।

फ्रान्त्स बौप

उन्नीसवीं शताब्दी के पहले चरण में जिन अनेक आचार्यों ने भाषाओं के परीक्षण का कार्य प्रारम्भ किया, उनमें सबसे प्रमुख समझे जाते हैं, जर्मनी के फ्रान्त्स बौप (1791 ई0)। इक्कीस वर्ष की अवस्था में वे प्राचीन भाषाएँ सीखने के लिये पेरिस गए जहाँ उन्होंने संस्कृत पढ़ी। बौप की इच्छा थी कि विभिन्न भाषाओं के व्याकरणों के जितने रूप मिलें उन सबके मूल की खोज करें। इस कार्य के लिये उन्होंने संस्कृत का आश्रय ग्रहण किया । वे कहा करते थे–'मैं यह नहीं मानता हूँ कि यूनानी, लैटिन तथा यूरोप की अन्य भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं जो भारत की संस्कृत पुस्तकों में मिलती हैं । मैं समझता हूँ कि ये सब भाषाएँ किसी आदिम भाषा के बहुत पीछे के रूप हैं। जिनमें संस्कृत ने तो आदिम भाषा से अभी तक पूरा-पूरा सम्बन्ध बनाए रखा है, किन्तु इसकी सहयोगिनी भाषाएँ इससे बहुत दूर चली गयी हैं ।' बौप के इस भ्रामक मत के कारण ही आधुनिक के भाषा शास्त्रियों ने एक 'इण्डोयूरोपियन भाषा परिवार' की कल्पना कर ली है । वास्तव में भारत के वैदिक आर्यों की संस्कृति से ही पूर्वी यूरोप के देश प्रभावित थे, इसलिये उन्होंने भाषा तो ग्रहण कर ली किन्तु उनकी वह व्युत्पत्ति उन्होंने नहीं की, जिसके अनुसार वैदिक संस्कृत के सब शब्द निरुक्त, व्याकरण और शिक्षाके अनुसार सिद्ध होते थे।

बौप की इच्छा थी कि इन परस्पर मिलती-जुलती भाषाओं का आदिम स्रोत खोज निकाला जाए। इस प्रयास में उसने तुलनात्मक व्याकरण की रचना की।

याकोब ग्रिम

याकोब ग्रिम का जन्म जर्मनी के धनी परिवार में हुआ था। बाल्यावस्था में ही उसे प्राचीन जर्मन कविता पढ़ने का जो चस्का लगा, वह निरन्तर बढ़ता ही गया। उसके भाई विलहेल्म की भी यही प्रवृत्ति थी, इसलिये दोनों भाइयों ने प्राचीन जर्मन कविताओं और कहानियों में प्रयुक्त होने वाली भाषाओं के परीक्षण की एक नवीन पद्धति खोज निकाली। जिन पुरानी कथा-कहानियों, लोकगीतों, लोरियों तथा लोक-साहित्य के भण्डार की प्राचीन आचार्यों ने

उपेक्षा की थी, उस अलिखित भण्डार का संग्रह करके उन्होंने उसका परीक्षण प्रारम्भ कर दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने इस पृथ्वी पर रहने वाले सब मानव-समुदायों की परीक्षा का ऐसा व्यवस्थित रूप स्थिर कर लिया, जिसके आधार पर इस पृथ्वी के किसी भी प्रदेश के रहने वाले मानव-समुदाय के मन में उठने और आने वाली सब भावनाओं की तुलना करके उनकी परीक्षा की जा सके, क्योंकि संसार में जो कुछ लिखित साहित्य मिलता है वह इस समस्त अलिखित साहित्य का अत्यन्त नगण्य अंश है। याकोब ग्रिम ने भाषा-परीक्षण पूर्व की प्रचलित पद्धतियों से भिन्न मार्ग ग्रहण किया तथापि उनकी एक बात तो उसने मान ही ली कि जिस कसौटी पर अलग-अलग भाषाओं की यह परीक्षा की जा सके कि कौन भाषा कितनी समृद्ध है उसे अवश्य ही स्थिर किया जाना चाहिए।

बर्लिन विश्वविद्यालय के आचार्य के रूप में उसने जर्मन भाषाओं के परीक्षण के कार्य को और भी आगे बढ़ाया। वाक्य-विन्यास पर जो उसने महत्त्वपूर्ण कार्य किया, वह उसकी सबसे बड़ी देन समझनी चाहिए। जिस प्रकार वाक्यपदीय में आचार्य भर्तृहरि ने भाषाकी प्रकृति में वाक्य को महत्ता प्रदान करके उसका विशेष विवेचन किया उसी प्रकार ग्रिम ने भाषाका मुख्य आधार वाक्य ही माना और उसी दृष्टि से भाषा पर विचार किया।

रॉस्क

रॉस्क का स्पष्ट और निश्चित मत था, कि संसार की किसी जाति का पूरा विवरण ज्ञात करने के लिये उसकी भाषा से ही उसके जातीय जीवन के पूरे विवरण के आंकडे एकत्र किए जा सकते हैं, क्योंकि किसी भी मानव-जाति का रहन-सहन, खान-पान और आचार-विचार चाहे जितना भी बदल गया हो, किन्तु उसकी भाषा ज्यों की त्यों बनी रहती है। यदि उसमें कुछ अन्तर आता भी है, तो वह इस प्रकार का होता है कि सैकड़ों वर्ष पीछे-तक भी उसे भली प्रकार जाना-पहचाना जा सकता है। इसलिये किसी भी भाषा का परीक्षण करते समय उसमें प्रयुक्त होने वाले शब्दों का विचार न करके उसकी रचना या वाक्य-विन्यास या रूप पर ही विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि शब्द तो अदलते-बदलते, आते-जाते, बनते-बिगड़ते, बढ़ते-घटते और मिटते-घिसते रहते हैं, किन्तु भाषा के रूप और उसकी प्रकृति में बहुत परिवर्तन नहीं होता।

इस सम्बन्ध में यह भी जान लेना आवश्यक है, कि जिस भाषा का व्याकरण जितना ही अधिक जटिल होगा उतनी ही वह अपने मूल रूप के समीप होगी। यदि किन्हीं दो भाषाओं के अति प्रयुक्त शब्द परस्पर समान हों तो समझना चाहिए कि ये एक ही शाखा की दो टहनियाँ हैं। रास्क ने बहुत देशों में भ्रमण करके अनेक भाषाएँ सीखीं और उनकी परस्पर तुलना भी की, पर वह सदा रुग्ण रहता था और उसके पास द्रव्य का भी अभाव था इसलिये वह इस प्रयास में अधिक सफल नहीं हो सका। उसने जितनी भाषाएँ सीखी थीं उनमें से बहुत सी भाषाओं के व्याकरण लिखे, जिनमें उसने उन भाषाओं की रचनात्मक प्रकृति पर ही विशेष ध्यान दिया।

विलहेल्म फौन हम्बोल्ट

ऊपर जिन तीन भाषा-शास्त्रियों की चर्चा की जा चुकी है, उनके साथ जर्मनी के विलहेल्म फौन हम्बोल्ट (1767 से 1835) का नाम भी उल्लेखनीय है जिसने नवीन रूप में भाषाओं के परीक्षण की पद्धति प्रतिपादित की। उसका मत था कि 'भाषा की परीक्षा करते समय यह देखना चाहिए कि वह निरन्तर किस प्रकार व्यवहृत की जा रही है, क्योंकि भाषा के इस पुनरावर्तन से ही उस भाषा की ठीक-ठीक प्रकृति और उसमें होने वाले परिवर्तन का ठीक-ठीक विवरण जाना जा सकता है। भाषा कोई स्थिर वस्तु नहीं है, वह तो निरन्तर होने वाली गतिशील प्रक्रिया है जो केवल लिखे जाने मात्र से स्थिर नहीं हो जाती। उसे बने रहने के लिये उसका बोला जाना और समझा जाना अत्यन्त आवश्यक है।

हम्बोल्ट ने भाषाओं के दो रूप माने –पूर्ण भाषा और अपूर्ण भाषा। किन्तु उनका यह भी मत है कि 'किसी भाषा को इसीलिये क्षुद्र और अपूर्ण नहीं समझना चाहिए कि वह वन्य मानव-जातियों की भाषा है।' उसका यह भी मत है कि 'प्रत्येक भाषा का कुछ अपना विशेष गुण होता है, जिससे उस भाषा के बोलने वालों की प्रकृति का और उनकी मानसिक वृत्ति का पूर्ण परिज्ञान हो सकता है।'

रॉप, ब्रड्सफोर्ड, श्लॉइखेर, कुटियस, माडविग

भाषाशास्त्रियों ने भाषा-परीक्षण की जो परिपाटी अब तक स्थापित की थी वह निरन्तर बढ़ती चली गयी। के0एम0 रॉप ने ध्वनियों की परीक्षा, उनकी तुलना और रचना का विवरण देकर ध्वनियों का नवीनतम वर्गीकरण किया। हॉलेंड-निवासी जे0 एच0 ब्रड्सफ़ोर्ड ने यह परीक्षण प्रारंभ किया कि भाषाओं में परिवर्तन क्यों होता है और किन कारणों से संस्कृत, लैटिन और फ्रांसीसी भाषा के बीच इतना अन्तर हो गया। ऑगस्ट श्लॉइखेर (1821-1868) ने भी अनेक भाषाओं की तुलना करने की अपनी अलग पद्धति निकाली, क्योंकि वह स्वयं कई भाषाओं का पंडित था और उसकी इस प्रकार के कार्य में स्वाभाविक रुचि थी। श्लॉइखर के सहयोगी जार्ज कुटिअसने यूनानी भाषा का अत्यन्त सूक्ष्म परीक्षण किया था। उसके दूसरे सहयोगी योहान निकोलाई माडविग ने भाषा-परीक्षणके क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया और कुछ नयी पद्धतियाँ भी प्रतिपादित कीं।

मैक्समूलर, ह्विटनी तथा अन्य विद्वान्

सर्वप्रथम सन् 1861 में जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने भाषाओं के परीक्षण के संबंध में इतना अधिक मौखिक विवेचन किया और इतने लेख लिखे कि अनेक विद्वान इस कार्य में प्रवृत्त हो गए।

श्लॉइखेर के पश्चात् अमरीकावासी विलियम ड्वाइट ह्विटनी ने भाषाओं के पर अधिक उच्च कोटि का कार्य किया। जिस प्रकार मैक्समूलर ने इस कार्य के प्रति का ध्यान आकृष्ट किया था उसी प्रकार ह्विटनी ने भी इस विषय में ऐसे लेख लिखे जिनसे विद्वान इस ओर प्रवृत्त हुए। उसका मत था कि 'पारस्परिक विचार लिए मनुष्यों को जैसे-जैसे काम पड़ता गया, वैसे-वैसे भाषाएँ बढ़ती चली गयी।'

धीरे-धीरे विभिन्न भाषाओं की ध्वनियों का भली-भाँति परीक्षण कर पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि प्राचीन मान-दण्डों से काम नहीं चलेगा, नये मानदण्ड स्थापित करने होंगे। इस कार्य में स्टाइन्थेल (1825-66), कार्ल वर्नर (1880), ब्रगमाँ, डेलखकर आस्टॉफ और हरमन पाउलने प्रशंसनीय कार्य किया। भाषा-परीक्षण का यह कार्य प्रारंभ में तो जर्मनी में ही होता रहा, किन्तु इसके पश्चात् पेरिस में मेइए, वान्द्रियाज और द ऊजा ने अत्यन्त मनोवेग से इस कार्य का प्रसार किया, जर्मनी में भी आउण्ट, हर्ट. लासकिन और स्क्रिप्चर नामक विद्वान् अत्यन्त अध्यवसाय-पूर्वक यह कार्य करने लगे । इस कार्य में अमरीका के ब्लूमफील्ड, इंगलैंड के डेनियल जोन्स और हॉलण्ड के ऑटो येस्पर्सन के श्लाघनीय प्रयास को भुलाया नहीं जा सकता।

भारत में भाषा-शास्त्र

भारत में यूरोपीय शैली पर और प्रधानतः यूरोपीय मान्यता के अनुसार जिन विद्वानों ने कार्य किया, उनमें रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, तारापोरवाला तथा सुनीतकुमार चटर्जी आदि का योगदान अधिक महत्त्वपूर्ण है । जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें भाषाशास्त्र की शिक्षा दी जाने लगी, तब वहाँ के हिन्दी विभाग के तत्कालीन विभागाध्यक्ष डा0 श्यामसुन्दरदास ने अपने सहयोगी पंडित केशवप्रसाद मिश्र की सहायता से सर्वप्रथम भाषा-विज्ञान पर पुस्तकें लिखीं जिनमें उन्होंने यूरोपीय भाषा-शास्त्रीय अध्ययन का परिचय देते हुए हिन्दी की दृष्टि से भाषा-शास्त्र का निर्माण किया जिसके अनुकरण पर अन्य अनेक विद्वानों ने भाषा-शास्त्र पर ग्रन्थ लिखे। फिर भी भारतीय भाषाशास्त्र पर कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ और न यही प्रयास किया गया कि उस अक्षय, विशाल और विस्तृत भाषा-शास्त्रीय भंडार का व्यवस्थित संग्रह करके हिन्दी में उसे प्रस्तुत किया जाए। संस्कृत और प्राकृतों के सम्बन्ध पर, प्राकृतों और यूरोपीय भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्धों पर तथा वैदिक शब्दों के क्रमशः कम प्रयोग की प्रवृत्ति पर भी अध्ययन नहीं हुआ। आज तक वैदिक भाषा एवं शब्दों के व्युत्पत्तिपरक विश्लेषण का कार्य भाषाशास्त्र के क्षेत्र में उपेक्षित रहा है। यदि इसका समुचित अध्ययन हो तो तुलनात्मक भाषाशास्त्र के क्षेत्र की अनेक गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं और अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है।

प्रपत्तिस्तवः

जय राम हरे सुखधाम हरे
जगदीश हरे जगदीश हरे।।
जय कृष्ण हरे घनश्याम हरे
जगदीश हरे जगदीश हरे।।

भूमितले मम कोऽपि न केशव
मामव हे भवसिन्धुतरे।।1।।
जगदीश हरे जगदीश हे, जय राम ...

हे भवभावन विश्वविभावन
पावन लाहि करं स्वकरे।।2।।
जगदीश हरे जगदीश हरे, जय राम ...

माधव मोदय पोषय तोषय
लोकपथे बहुकष्टभरे ।।3।।
जगदीश हरे जगदीश हरे , जय राम ...

श्रीकरुणेश दयस्व सदा मयि
कुत्सितकल्मषधूरधरे।।4।।
जगदीश हरे जगदीश हरे,जय राम...

त्वत्कृपयेह विना क्व गतिर्भुवि
देहि दयां मयि दीननरे ।।5।।
जगदीश हरे जगदीश हरे, जय राम ...
जीवनसंगतिरत्र सदा मम
अस्तु नरे परमेशपरे ।।6।।
जगदीश हरे जगदीश हरे,जय राम ...

राधा नटति

राधा नटति रतिधाका स्वदाका ,
राधा नटति रतिधाका ।।
नन्दनन्दनानन्दितवदना
भुवने स्थापितनाका ।।1।। स्वदाका, राधा नटति...

हासोल्लासविभासितरदना
तोषितरसभिक्षाका।।2।। स्वदाका,राधा नटति...

स्वानिर्वचनीयच्छविनिचयैः
मूकीकृतजल्पाका।।3।। स्वदाका ,राधा नटति...

कमनीयाद्भुत-दुर्लभतमनिज-
भाभापितपितुभाका।।4।। स्वदाका,राधा नटति...

प्रेमसुधारसमीरसमीरण-
मोदितमोदपताका।।5।। स्वदाका ,राधा नटति...

मधुरमनोहरकरकमलैरिह
वितरितनवरसपाका।।6।। स्वदाका,राधा नटति...

प्रभुपदपद्मरसभ्रमरेभ्यः
पायितपरमसुधाका।।7।। स्वदाका,राधा नटति...

होलाखेलनचाकचिक्यचय-
मोहितमृदुलमलाका।।8।। स्वदाका,राधा नटति...

श्यामसहिततेवनपरिपूरित-
परमानन्दतडाका।।9।। स्वदाका, राधा नटति...

रमणारमणलवणखेलनतो
दीप्तो दिवसो राका।।10।। स्वदाका, राधा नटति...

-डॉ. शैलेश कुमार तिवारी
उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार

राष्ट्रोपनिषत्-प्रस्तावना-शतकम्

रचयिता
आचार्य डॉ. नारायणशास्त्री काङ्कर विद्यालङ्कार
(महामहिम-राष्ट्रपति-सम्मानित)

हिन्दी-रूपान्तरण-कर्त्री
सौ. श्रीमती इन्दु शर्मा
एम.ए., शिक्षाचार्या

अंग्रेजी-रूपान्तरण-कर्त्ता
महामण्डलेश्वर स्वामी श्री ज्ञानेश्वरपुरी
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर

(गताङ्कादग्रे) **तस्मादेव चारित्र्यमिह जनानां क्षीयमाणं विलोक्यते ।**
चारित्र्ये क्षरणमेव, सर्वानर्थानां मूलमनुभूयते ॥84॥

इसीलिये यहाँ लोगों का चरित्र क्षीण होता हुआ देखा जा रहा है। चरित्र में क्षरण होना ही सब प्रकार के अनर्थों का मूल अनुभूत किया जाता है।

Because of this, the character of the people is diminishing/degrading. Degradation of the character is the root/reason for all disasters.

उपदेशक-साधु -सन्त, महात्मस्वसंख्येषु सत्स्वपि हा हन्त ! ।
राष्ट्रे जायमानं , चरित्र - क्षरणं नैवावरोध्यते ॥85॥

हा ! दुःख है, असंख्य उपदेशकों, साधु-सन्तों और महात्माओं के होते हुए भी राष्ट्र में हो रहा चरित्र-क्षरण रोका नहीं जाता है।

Yes, it is sad that even there are countless preachers, sadhus, saints and mahatmas the character degradation cannot be stopped.

यावत् सुविधा-शुल्कं, न दीयते क्वापि कर्मचारिणे ।
सिद्यति न तावदिष्टं , धारणैष न कस्यास्तीह ? ॥86॥

जब तक कर्मचारी को कहीं भी सुविधा-शुल्क (रिश्वत) नहीं दिया जाता, तब तक अभीष्ट सिद्ध नहीं होता है, यह धारणा यहाँ किसकी नहीं है ?

Whose does not believe that no work will not be done till the bribe is not given to the staff?

सम्पन्नो ददात्विमं , परं विपन्नः कथं ददातु ? ।
एतत्कुप्रवृत्तेर्हा ! कदा मुक्तिरत्र मेलिष्यति ? ॥87॥

सम्पन्न व्यक्ति भले ही यह सुविधा-शुल्क दे, परन्तु विपन्न व्यक्ति कैसे देगा ? इस कुप्रवृत्ति से हा ! दुःख है यहाँ मुक्ति कब मिलेगी ?

Even if the rich person gives a bribe, but how will the poor one give? When shall we be free from this evil disposition?

गुरुदेव ! राष्ट्रचरित्र-क्षरणस्य सन्त्येताः कतिचन वर्णिकाः ।
सर्वक्षरण - चर्चया, तु महाभारतमेव सज्जितं स्यात् ॥88॥

गुरुदेव ! राष्ट्र के चरित्र के क्षरण की ये तो कुछ बानगियाँ हैं । सम्पूर्ण क्षरणों की चर्चा से तो एक महाभारत ही तैयार हो जाय।

Gurudev, these are only some of the examples of the nation character degradation/deterioration. If one spoke about all degradation, there would be a Mahabharat .

राष्ट्रोद्धृति-विचारेण , वेद - स्मृति-पुराणोपनिषदुपक्रमे ।
भवतः पितृपादैः श्रीयुत- नवलकिशोरकाङ्कर-महाभागैः ।।89।।

राष्ट्रोद्धार के विचार से वेद, स्मृति, पुराण और उपनिषद् के उपक्रम में आपके पितृचरण श्रीयुत नवलकिशोर काङ्कर महानुभाव के द्वारा ।

Your respected father Shree Naval Kishore Kankar presented the thoughts on the progress of the nation in the series of the books - Veda, Smriti, Purana and Upanishad.

वैदिकभाषायामथ, वैदिकच्छन्दःस्वेवाद्वितीयः प्राक् ।
राष्ट्रवेदो विरचितः, स्वीय-काङ्कार्षेय-भाष्येण सहितः ॥90॥

वैदिक भाषा और वैदिक छन्दों में ही एक अद्वितीय राष्ट्रवेद अपने काङ्कार्षेय भाष्य के साथ पहले विरचित किया गया था।

Respected Kankar wrote unparallel Rashtra Veda was with his commentaries, in the Vedic language and Vedic Chand (metre).

(क्रमशः)

ISSN : 2582-6360

विविध साहित्यिक गतिविधियाँ

प्रकाशक : विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान - कीर्ति नगर, श्याम नगर, सोढाला, जयपुर

Website : vgda.in **Youtube :** www.youtube.com/c/vishwagurudeepashram **E-mail :** jaipur@yogaindailylife.org